

11354

Kashmir Series of Texts and Studies.

No. XLI.

THE
TANTRĀLOKA
OF
ABHINAVAGUPTA
WITH COMMENTARY
BY
RĀJĀNAKA JAYARATHA.

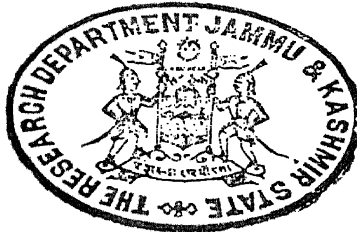
EDITED WITH NOTES

BY

PANDIT MADHUSUDAN KAUL SHĀSTRĪ, M. A., M. O. L.
Superintendent Research Department,
JAMMU AND KASHMIR STATE,
SRINĀGAR.

Published under the Authority of the Government of
His Highness Lieut.-General Mahārājā
Sir PRATĀP SINGH SĀHIB BAHĀDUR,
G. C. S. I., G. C. I. E., G. B. E., LL. D.
MAHĀRĀJA OF JAMMU AND KASHMIR STATE.

Volume VII (Ahnikas X, XI & XII)



BOMBAY:

PRINTED AT THE 'NIRNAYA-SAGAR' PRESS,
1924.

PAID ON THE 26th
26-2-98

Rajiv
F

श्रीसोमानन्दनाथप्रभृतिगुरुवरादिष्टसन्नीतिमार्गो
लब्ध्वा यत्रैव सम्यक्पटिमनि घटनामीश्वराद्वैतवादः ।
कश्मीरेभ्यः प्रसृत्य प्रकटपरिमलो रञ्जयन्सर्वदेश्यान्
देशेऽन्यस्मिन्नदृष्टो घुसृणविसरवत्सर्ववन्द्यत्वमाप ॥ १ ॥

तरत तरसा संसारार्ब्धि विधत्त परे पदे
पदमविचलं नित्यालोकप्रमोदसुनिर्भरे ।
विमृशत शिवादिष्टाद्वैतावबोधसुधारसं
प्रसभविलसत्सद्युक्त्यान्तःसमुत्प्लवदायिनम् ॥ २ ॥

SRI VENKATESWARA
CENTRAL LIBRARY &
RESEARCH CENTRE,
Acc. No. 11354
Date.....
TIRUPATI.

11354

11354

ॐ

काश्मीर-संस्कृतग्रन्थावलिः ।

ग्रन्थाङ्कः ४१

श्रीतन्त्रालोकः ।

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य-

श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यविरचितः ।

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य-

श्रीजयरथकृतविवेकाभिरुच्यटीकोपेतः ।

श्रीभारतधर्ममार्तण्ड-कश्मीरमहाराज-

श्रीप्रतापसिंहवर-प्रतिष्ठापिते

प्रज्ञविद्याप्रकाश-(रिसर्च) कार्यालये

तदध्यक्ष-पण्डित-मधुसूदन-कौल-शास्त्रिणा

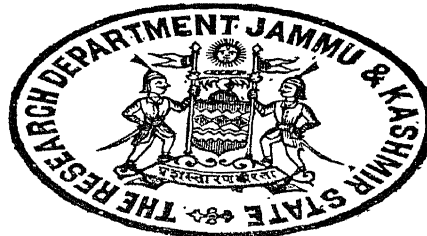
उद्दिष्टकार्यालयस्थेतरपण्डितसहायेन संगृह्य,

संशोधन-पर्यायाङ्कन-विवरणादिसंस्करणोत्तरं

पाश्चात्यविद्वत्परिषत्संमताधुनिकसुगमशुद्धरीत्युपन्यासादिसंस्कारैः परिष्कृत्य
मुम्बय्यां निर्णयसागर-नाम्नि यन्त्रालये मुद्रापयित्वा प्राकाश्यमुपनीतः ।

(सप्तमो भागः)

(दशमैकादशद्वादशाह्निकानि)



संवत् १९८१

काश्मीर-श्रीनगर

ख्रैस्ताब्दः १९२४.

(अस्य ग्रन्थस्य सर्वे प्रकाशन-मुद्रापणायधिकाराः प्रोक्तमहाराजवर्यैः

स्वायत्तीकृताः सन्ति)

(All rights reserved).

Printed by Ramchandra Yesu Shedge, at the ' Nirnaya-sagar ' Press,
23, Kolbhat Lane, Bombay.

Published by Pandit Madhusudan Kaul Shastri, M. A., M. O. L.
for the Research Department,
Jammu and Kashmir State, SRINAGAR.

R663x3,1

15F24

अथ

श्रीतन्त्रालोक-

दशमाह्निकस्थमूलश्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका

| पृ. सं. | श्लो.सं. | पृ. सं. | श्लो.सं. | | |
|-------------------------|----------|---------|-------------------------------|-----|-----|
| अकलेन विशेषाय | ९३ | १३० | अन्ये तु कथयन्त्येषां १९४ | २८८ | |
| अकलौ स्वप्नसौषुप्ते | २०३ | ३०३ | अपरं परापरं च | १८५ | २७३ |
| अतः सकलसंज्ञस्य | ८१ | १०६ | अपि चास्त्येव नन्वस्तु | ७३ | ९५ |
| अत एव यथा भेद- | १४५ | २१३ | अपूर्वमत्र विदितं | २६ | ३४ |
| अत एव यदा येन | ६५ | ८२ | अप्रकाशं तदन्येन | ३९ | ५२ |
| अत एव शिवावेशे | १४१ | २०६ | अप्रकाशः स्वप्रकाशात् | ६२ | ७६ |
| अत एव हि मन्यन्ते | १४७ | २१७ | अप्रकाशात्प्रकाशत्वे | ८४ | ११५ |
| अतदात्मा पटो नैति | २२ | ३० | अभिन्नेऽपि शिवेऽन्तःस्थ १२७ | १८६ | |
| अतस्त्रयोदशत्वं स्यात् | ९० | १२५ | अर्थः प्रकाशश्चैद्रूपं | २६ | ३५ |
| अतो भेदसमुल्लास- | १४३ | २१० | अर्थक्रियाकरं तच्चेत् | ४८ | ६१ |
| अत्रापि न वहन्त्येताः | ४१ | ५३ | अर्थे ज्ञाता यदा यो यः | ५४ | ६८ |
| अत्रापि वेद्यता नाम | ११४ | १६५ | अर्थे प्रकाशना सेयं | ३४ | ४५ |
| अथ तन्निजमाहात्म्य- | ६४ | ८१ | अवतारो हि विज्ञानि- | ९८ | १३९ |
| अथ वेदकसंविद्धि- | १७ | २२ | अवेद्यधर्मका भावाः | २३ | ३१ |
| अधिष्ठेयसमापत्ति- | १६५ | २४३ | अवेद्यमेव भानं हि | ७४ | ९७ |
| अधुनात्र समस्तस्य | ११६ | १६७ | अवेद्या एव ते संस्युः | २१ | २२ |
| अध्यारोपात्मकः सोऽपि ३८ | | ५१ | अवेद्यो वेद्यतारूपात् | ५९ | ७५ |
| अनन्तभेदतैकैकं | ९० | १२४ | अव्यक्तान्ता यतोऽस्त्येषां ७५ | ९८ | |
| अनवस्था तथा ह्यन्यै- | ५६ | ७१ | अस्ति चातिशयः कश्चित् १३४ | १९६ | |
| अनुत्तरादिह प्रोक्तं | १८९ | २८१ | अस्यैव सप्तकस्य स्व- | १२२ | १७८ |
| अन्यं प्रति चकास्तीति | ५० | ६३ | | | |
| अन्यथा न प्रकाशेरन् | ४२ | ५५ | आत्मसंकल्पनिर्माणं | १९४ | २९० |
| अन्यशक्तिरोभावे | ११३ | १६२ | आद्यायां तु तुटौ सर्व १४३ | २०९ | |
| अन्यस्तथा न संवित्ते | १०४ | १४८ | आद्येऽत्र षट्के ता देव्यः १३४ | १९५ | |
| अन्यादृशेन वेत्येवं | ६६ | ८४ | आविश्येव निमज्ज्येव ११२ | १६१ | |
| अन्याधीनप्रकाशं हि | ८५ | ११६ | आ शिवात्सकलान्तं ये १३ | १८ | |

| | पृ. सं. | श्लो.सं. | | पृ. सं. | श्लो.सं. |
|------------------------------|---------|----------|-----------------------------|---------|----------|
| इति पञ्च पदान्याहुः | १५७ | २२९ | गतागतं सुविक्षिप्तं | १७२ | २५३ |
| इति श्रीसुमतिप्रज्ञा- | १९३ | २८७ | गिरौ येनैष संयोग- | ३५ | ४७ |
| इत्थं जडेन संबन्धे | ३३ | ४४ | प्राह्यप्राहकसंविताौ | १३९ | २०४ |
| इत्यादि तुर्यातीतं तु | १६३ | २३९ | घट एव स्वरूपेण | ७३ | ९४ |
| इत्येवं चोदयन्मन्ये | ५५ | ६९ | चतुर्दशविधस्यास्य | ९२ | १२९ |
| इदं तु चिन्त्यं सकल- | ६४ | ७९ | चैत्रमैत्रादिभूतानि | १५९ | २३२ |
| उच्यते त्रिकशास्त्रैक- | १ | १ | चैत्रेण वेद्यं जानामि | ६६ | ८३ |
| उच्यते परिपूर्णं चेत् | ६४ | ८० | जडेऽपि चित्तिरस्त्येव | ९५ | १३४ |
| उदासीनस्य तस्यापि | १७८ | २६३ | जाग्रदादि चतुष्कं हि | १६२ | २३८ |
| उदितं विपुलं शान्तं | १७९ | २६४ | ज्ञानाकलस्य मानं तु | ११ | १४ |
| उद्भूतपूर्णरूपोऽसौ | ८२ | ११२ | ज्ञानाकलोऽपि मन्त्रेश- | ९७ | १३८ |
| उपचारः कथं नाम | ३५ | ४८ | ज्ञानशक्तिः स्वप्न उक्तः | २०१ | ३०० |
| उपचारे निमित्तेन | ३५ | ४६ | तं प्रत्येव स वेद्यः स्यात् | ५१ | ६६ |
| उपदेशोपदेष्टृत्व- | ८७ | ११८ | तत एव घटेऽप्येषा | १५२ | २२३ |
| एकत्रापि प्रभौ पूर्णे | २०१ | २९९ | तत एवोच्यते मल्ल- | ६७ | ८६ |
| एतच्च सूत्रितं धात्रा | १२७ | १८५ | ततो न किञ्चिद्वेद्यं स्यात् | १८ | २४ |
| एवं जलाद्यपि वदेत् | १२६ | १८३ | तत्र चैत्रे भासमाने | १६१ | २३६ |
| एवं द्वयं द्वयं यावत् | १४० | २०५ | तत्र स्वरूपं शक्तिश्च | २०३ | ३०२ |
| एवं द्वितीयषट्केऽपि | १३३ | १९४ | तत्राक्षवृत्तिमाश्रित्य | १९४ | २८९ |
| एवं धरादिमूलान्तं | १३६ | १९९ | तत्समावेशतादात्म्ये | १८३ | २७० |
| एवं लयाकलादीनां | १११ | १५९ | तत्समावेशनैकव्यात् | १८४ | २७१ |
| एवमेतद्धरादीनां | ११४ | १६४ | तत्स्वप्नो मुख्यतो ज्ञेयं | १६८ | २४८ |
| कलान्तं भेदयुग्धीनं | २ | ४ | तथा गतविकल्पेऽपि | १३८ | २०२ |
| किं तत्प्रकाशतां नाम | २४ | ३३ | तथा चेदं दर्शयामः | २८ | ३७ |
| केचित्त्वेकां तुटिं प्राह्ये | १३५ | १९७ | तथाचोक्तं कल्लटेन | १४२ | २०८ |
| कोऽपि भावः प्रोज्झतीति | ८८ | १२१ | तथा तज्ज्ञातृवेद्यत्वं | ५३ | ६७ |
| क्रमात्तु भेदन्यूनत्वे | १३७ | २०० | तथा षड्विधमध्वानं | ६९ | ९० |
| क्रमिकेयं भवेत्संविद् | १५० | २२१ | तथा हि गन्तुं शक्तोऽपि | ३० | ३९ |

| पृ. सं. | श्लो.सं. | पृ. सं. | श्लो.सं. |
|-----------------------------|----------|--------------------------|----------|
| तथा हि भासते यत्तत् १६० | २३४ | त्रिभेदता मन्त्रमहा- | ९० १२३ |
| तथा हि वेद्यता नाम १४ | १९ | दशा तस्यां समापत्ती- | १८५ २७४ |
| तथा ह्येकाग्रसकल- | ६६ ८५ | दूरेऽपि ह्यन्तिकीभूते | १५० २२० |
| तदनाभासयोगे तु ७१ | ९२ | द्वितीयं मध्यमं षड्ङ्गं | १३२ १९२ |
| तद्व्यविदितप्रायं ५० | ६४ | द्वितीया शिवरूपैव | १४१ २०७ |
| तदस्यां सूक्ष्मसंवित्तौ | १३५ १९८ | द्वितीयो ग्राहकोल्लास- | १३० १८९ |
| तदीशवेद्यत्वेनेत्थं ७० | ९१ | द्विविधश्च प्रबोधोऽस्य | ९६ १३५ |
| तद्वलाद्वेद्यतायोग्य- | १०० १४१ | धरातत्त्वगताः सिद्धीः | ११६ १६९ |
| तद्वच्चकास्ति वेद्यत्वं ४४ | ५७ | धरातत्त्वाविभेदेन | ११६ १६८ |
| तन्निरासाय नैतस्यां | १९० २८२ | धर्मा वेद्यत्वमभ्येत्य | ५७ ७२ |
| तन्निर्विकल्पं प्रोद्बुच्छ- | १३१ १९१ | न चेन्न कापि मुख्यत्वं | २०२ ३०१ |
| तर्हि लोके कथं ण्यर्थः २९ | ३८ | नतु क्रमिकता काचित् | १५३ २२४ |
| तव नीलः किं न पीतः ५१ | ६५ | न तु पाशवसांख्यीय- | ११७ १७१ |
| तस्याः स्वकं यद्वैचित्र्यं | १५६ २२८ | नतु चैत्रीयविज्ञान- | १५ २० |
| तस्यामेकः प्रमाता चेत् | १५८ २३० | न भावग्रहणं तेन | १७५ २५९ |
| तां च चिद्रूपतोन्मेषं | १४८ २१९ | न ह्येक एव भवति | १९१ २८३ |
| ता एव मातृमामेय- | ८ ८ | नात्र योगस्य सद्भावो | १८९ २७९ |
| तादृगेव शिशुः किं हि ३७ | ४९ | नान्या काचिदपेक्षास्य | ६२ ७७ |
| तादृशा स्वयमप्येष ४१ | ५४ | निष्प्रपञ्चो निराभासः | १९२ २८६ |
| तावत्तत्त्वोपभोगेन | ११८ १७२ | नीतो मन्त्रमहेशादि- | ८७ ११९ |
| तावन्मात्रार्थसंवित्ति- | ६८ ८७ | नीलादिवत्तथैवायं | ६३ ७८ |
| तासु सन्दधतश्चित्तं | १४४ २१२ | न्यकृतां शक्तिमास्थाय- | ११२ १६० |
| तिरोभावोद्भवौ शक्तेः | ११३ १६३ | न्यगभूतकञ्चुको माता | ८१ १०७ |
| तुर्यातीतपदे संस्युः | १९७ २९४ | पदं च तत्समापत्ति | १७३ २५५ |
| तेन प्रधाने वेद्येऽपि | ७७ १०१ | पाञ्चदश्यं धराद्यन्त- | ७७ १०२ |
| तेन मूढैर्यदुच्येत | १२१ १७६ | पार्थिवत्वेऽपि नो साम्यं | १०७ १५२ |
| तेऽपि मन्त्रा यदा मेयाः | ८२ १११ | पूर्णतागमनौन्मुख्य- | १८० २६५ |
| तेषाममीषां तत्त्वानां | १ २ | पूर्णस्य वेद्यता युक्ता | ८८ १२० |
| त्रयस्यास्यानुसन्धिस्तु | १९९ २९६ | | |
| त्रितयानुग्रहात्सेयं | १८७ २७७ | | |
| त्रिधा मन्त्रावसानाः स्युः | १२३ १८० | | |

| | पृ. सं. | श्लो.सं. | | पृ. सं. | श्लो.सं. |
|----------------------------|---------|----------|-----------------------------|---------|----------|
| प्रकाशत्वोपकारे तु | ३८ | ५० | भेदोऽयं पाञ्चदश्यादि- | १२९ | १८७ |
| प्रकाशात्मा न तत्संवि- | २३ | ३२ | भैरवायत एव द्राक् | १५६ | २२६ |
| प्रबुद्धं सुप्रबुद्धं च | १६३ | २४० | भोक्तैव भण्यते सोऽपि | १०३ | १४६ |
| प्रबुद्धः सुप्रबुद्धश्च | १६१ | २३७ | मन्त्रास्तत्पतयः सेशाः | १९२ | २८५ |
| प्रबुभुत्सुः शुद्धविद्या | ११ | १५ | मन्त्रास्तदीशाः पाञ्चध्ये | ३ | ५ |
| प्रमाता स्वकतादात्म्य- | ८२ | ११३ | मन्वाते नेह वै किञ्चित् | ९५ | १३३ |
| प्रमातृता स्वतन्त्रत्व- | १८२ | २६९ | ममेति संविदि परं | ७४ | ९६ |
| प्रमातृमेयतन्मान- | १५९ | २३३ | मया प्रकटितः श्रीमत् | १५६ | २२७ |
| प्रमात्रन्तरसाधार- | १७१ | २५२ | मां द्रक्ष्यतीति नाङ्गेषु | १०० | १४३ |
| प्रयत्नवानिवाभाति | १४८ | २१८ | माता तदेकादशता | ९० | १२६ |
| प्रविभाव्यो न हि पृथक् | १३० | १९० | मातृमानाद्युपधिभिः | ९ | १० |
| प्रसंख्यातः प्रचयत- | १८६ | २७५ | मात्राद्यनुग्रहादाना- | १८४ | २७२ |
| प्रसंख्यानवतः कापि | १७७ | २६२ | मानं मन्त्रेश्वराणां स्यात् | ११ | १६ |
| प्रसंख्यानैकरूढानां | १६६ | २४४ | मानानां हि परो जीवः | ८६ | ११७ |
| प्रसीदतीव मन्त्रेव | १०५ | १४९ | माया कर्मसमुल्लास- | १२२ | १७७ |
| प्रेर्यप्रेरकयोरेवं | ३० | ४१ | मायातत्त्वे ज्ञेयरूपे | ८१ | १०८ |
| प्रेर्यमाणास्तु मन्त्रेशाः | ११७ | १७० | मुख्यानां भेदभेदानां | १०९ | १५७ |
| बाह्याभिमतभावानां | १७३ | २५४ | मूढवादस्तेन सिद्ध- | १९२ | २८४ |
| बीजं विश्वस्य तत्पूर्णीं | १७५ | २५८ | मेयं माने मातरि तत् | १८१ | २६७ |
| बीजभावोऽथाग्रहणं | १७६ | २६० | मेयता सा न तत्रास्ति | ८४ | ११४ |
| बुद्धा नादत्त एवाशु | ४६ | ५९ | मेयोऽपरः शक्तिमांश्च | ८ | ९ |
| भावस्य रूपमित्युक्ते | ५६ | ७० | यत्तु प्रहीतृत्वरूप- | १२५ | १८२ |
| भावस्य वैद्यता सैव | २० | २७ | यत्तु पूर्णानवच्छिन्न- | १८८ | २७८ |
| भावस्यार्थप्रकाशात्म | १९ | २५ | यत्तु बाह्यतया नीलं | १६० | २३५ |
| भूततत्त्वाभिधानानां | १६४ | २४१ | यत्त्वद्वैतभरोल्लास- | २०० | २९७ |
| भेदवन्तः स्वतोऽभिन्ना- | १९७ | २९२ | यत्त्वधिष्ठानकरण- | १६७ | २४७ |
| भेदोपभेदगणनां | १०६ | १५१ | यथात्र सकले भेदः | ९२ | १२८ |
| भेदो मन्त्रग्रहेशान्ते- | १२६ | १८४ | यथा यथा प्रकाशेत | ४३ | ५६ |
| | | | यथा यथा हि दूरत्वं | १४६ | २१६ |

| | पृ. सं. | श्लो.सं. | | पृ. सं. | श्लो.सं. |
|------------------------|---------|----------|--------------------------------|---------|----------|
| यथा यथा हि न्यूनत्वं | १४५ | २१४ | विस्पष्टं यद्वेद्यजातं | १६९ | २५० |
| यथास्वमाधरौत्तर्य- | ९६ | १३६ | वेद्यच्छायोऽवभासो हि | १७५ | २५७ |
| यथा हि चिरदुःखार्तः | १३८ | २०१ | वेद्यताख्यस्तु यो धर्मः | १८ | २३ |
| यदधिष्ठेयमेवेह | १५८ | २३१ | वेद्यता च स्वभावेन | १६ | २१ |
| यदा तु तत्तद्वेद्यत्व- | ६९ | ८८ | वेद्यताजनिताः सप्त | १० | १२ |
| यदा तु मेयता पुंसः | ८१ | १०५ | वेद्यत्वान्नव सप्त स्युः | ९१ | १२७ |
| यदेवास्थिरमाभाति | १९९ | २९५ | वेद्ये स्वातन्त्र्यभागू ज्ञानं | १७४ | २५६ |
| यदैव स क्षणं सूक्ष्मं | १२१ | १७५ | व्यापारादाधिपत्याच्च | २०६ | ३०९ |
| यावच्छिवैकवेद्योऽसौ | ११५ | १६६ | व्यावृत्तान् श्वेतिमा शुक्लं | ५९ | ७४ |
| यावद्भैरवबोधान्तः | १९७ | २९३ | शक्तिमच्छक्तिभेदेन | २ | ३ |
| यास्यतीति सृजामीति | १०१ | १४३ | शक्तिमद्भिरनुद्भूत- | ९ | ११ |
| योगाद्यभावतस्तेन | १८९ | २८० | शक्तिशक्तिमतां भेदात् | १०६ | १५० |
| रूपं दशाहमित्यंश- | १८२ | २६८ | शरं गमयतीत्यत्र | ३१ | ४२ |
| रूपकत्वाच्च रूपं तत् | १७७ | २६१ | शास्त्रेऽपि तत्तद्वेद्यत्वं | ६९ | ८९ |
| लयाकलस्य चित्रो हि | १०१ | १४४ | शिवतत्त्वमतः प्रोक्तं | १४६ | २१५ |
| लयाकलादौ नोवाच | ९४ | १३२ | शिवस्वाच्छन्धमात्रं तु | ९३ | १३१ |
| लयाकले तु स्वं रूपं | २०१ | २९८ | शिवाभेदाच्च किं चाथ | १५४ | २२५ |
| लोकयोगप्रसंख्यान- | १६७ | २४६ | शिवो मन्त्रमहेशेश- | ७ | ६ |
| लोकरूढोऽप्यसौ स्वप्नः | १६९ | २४९ | शिवो ह्यच्युतचिद्रूप- | १२२ | १७९ |
| लौकिकी जाग्रदित्येषा | १६५ | २४२ | षट्केऽत्र प्रथमे देव्य- | १३३ | १९३ |
| वायुरद्रिं पातयती- | ३१ | ४३ | षट्त्रिंशदङ्गुले चारे | १२९ | १८८ |
| विकल्पनिर्हासवशेन | १३९ | २०३ | षष्ठी कर्तारि चेदुक्तो | २७ | ३६ |
| विकल्पान्तरगं वेद्यं | १७१ | २५१ | संभोक्ष्यमाणां दृष्टैव | १०४ | १४७ |
| विज्ञानकेवलानष्टौ | ९९ | १४० | संवित्त्वं भासमानं | १५१ | २२२ |
| विज्ञानकेवले वेद्ये | ८२ | ११० | संविन्न किल वेद्या सा | १८६ | २७६ |
| विज्ञानाकल एवात्र | ८२ | १०९ | सकलस्य समुद्भूता- | ११० | १५८ |
| विज्ञानाकलभेदेऽपि | २०४ | ३०५ | सकला इति तत्कोश- | ७६ | ९९ |
| विपक्षतो रक्षितं च | ४५ | ५८ | | | |

| पृ. सं. श्लो.सं. | | पृ. सं. श्लो.सं. | |
|------------------------------|-----|------------------------------|-----|
| सकलान्तास्तु तास्त्रि- १२३ | १८१ | सौषुप्ते तत्त्वलीनत्वं ११९ | १७३ |
| सकलालयसंज्ञस्तु ७६ | १०० | स्थिरीभवेन्निशाभावा- १९५ | २९१ |
| स च नो विस्तरः साक्षात् १०७ | १५३ | स्थूलावृतादिसंकोच- ७८ | १०३ |
| स लस्फुटोऽस्तु भेदांशं १०९ | १५६ | स्मृतियोग्योऽप्यन्यथा वा १०३ | १४५ |
| सप्तभेदे तु मन्त्राख्ये २०४ | ३०६ | स्यादित्येतत्स्वपक्षघ्नं ४९ | ६२ |
| सप्तानां मातृशक्तीनां १०८ | १५४ | खं क्रिया ज्ञानमिच्छा च २०४ | ३०८ |
| समवायोऽपि संश्लिष्टः ५८ | ७३ | खं देहममृतेनेव ४६ | ६० |
| समवैति प्रकाशयोऽर्थः २१ | २८ | खं स्वरूपं पञ्चदशं ७ | ७ |
| समस्तज्ञातृवेद्यत्वे २० | २६ | स्वरूपं जाग्रदन्यत्तु २०३ | ३०४ |
| सर्वं सर्वात्मकं यस्मात् १०८ | १५५ | स्वरूपं मन्त्रमाहेशी २०४ | ३०७ |
| सर्वसत्तासमापूर्णं १६६ | २४५ | स्वरूपीभूतजडताः ७८ | १०४ |
| साक्षात्पदेनायमर्थः ८९ | १२२ | खातद्वयमात्रसद्भावा ११ | १७ |
| सामान्यात्मा सशक्तित्वे १० | १३ | खातद्वयवर्जिता ये तु ९६ | १३७ |
| सा संवित्स्वप्रकाशा तु १८० | २६६ | खात्मनो येन वपुषा ७१ | ९३ |
| सैव शक्तिः शिवस्योक्ता १४३ | २११ | स्वाम्यप्यस्य गतौ शक्तिं ३० | ४० |
| सौषुप्तमपि चित्रं च १२० | १७४ | | |

इति दशमाह्निकश्लोकानुक्रमणिका समाप्ता ।

अथ

श्रीतन्त्रालोक-

एकादशाह्निकस्थमूलश्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका



| | पृ. सं. | श्लो.सं. | | पृ. सं. | श्लो.सं. |
|--------------------------|---------|----------|-----------------------------|---------|----------|
| अङ्गुल्यादेशनेऽप्यस्य | ५५ | ७० | एवमाष्टादशाख्येऽपि | ३३ | ३८ |
| अत एव क्षणं नाम | ८८ | ११३ | औदासीन्यपरित्यागे | ३९ | ४८ |
| अत एव च ते मन्त्राः | ६९ | ८७ | कर्तृतोलासतः कर्तृ- | ९ | १७ |
| अतो बिन्दुरतो नादो | २९ | ३२ | कलाध्वा वक्ष्यते श्रीमत् | १ | १ |
| अतः शोधकभावेन | ७१ | ८९ | कार्यत्वकरणत्वादि- | ९ | १८ |
| अनुत्तरत्रिकानाम- | ७० | ८८ | किं वातिबहुना द्वार- | ७२ | ९१ |
| अन्तर्भाव्याचरेच्छुद्धि- | ६६ | ८४ | कृतश्च देवदेवेन | ४ | ७ |
| अन्यान्तर्भावनातश्च | ३४ | ३९ | कृत्वा शैवे परे प्रोक्ताः | ४० | ५० |
| अन्ये वदन्ति वीक्षादौ | ३ | ६ | केचिदाहुः पुनर्यासौ | २ | ४ |
| अत्र पक्षद्वये वस्तु | ३ | ५ | गच्छन्कलनया योगात् | ५० | ६१ |
| अपि चाप्रतिघत्वेऽपि | ८ | १५ | चित्तचित्रपुरोद्याने | ८१ | १०२ |
| अभविष्यदयं सर्गो | ८३ | १०५ | चिद्योमन्येव शिवे तत्त- | ७४ | ९४ |
| अविभागस्वतन्त्रत्व- | १८ | २८ | च्युता मानमयाद्रूपात् | ४६ | ५७ |
| अविश्रान्ततया कुर्युः | ५५ | ६९ | जागराभिमते सार्ध- | ८८ | ११२ |
| अष्टात्रिंशत्तमः सोऽपि | १७ | २७ | तत्किं न किञ्चिद्वा किञ्चि- | १६ | २५ |
| अस्या घनाहमित्यादि- | ८६ | १०९ | तत्त्वाध्वभुवनाध्वत्वे | ५० | ६२ |
| आमृशन्तः खचिद्भूमौ | ५१ | ६५ | तत्त्वाध्वैव स देवेन | ३४ | ४० |
| इति स्थिते नये शक्ति- | २७ | ३० | तत्स्पर्शान्ते तु संवित्तिः | २७ | ३१ |
| इमौ भेदावुभौ तत्त्व- | ३२ | ३६ | तथा तथा चमत्कार- | ६० | ७७ |
| उक्तं चैतत्पुरैवेति | ९० | ११७ | तथापि न विमर्शात्म | ३८ | ४६ |
| उक्ता तथाप्यप्रतिधे | ८ | १४ | तथा तेष्वपि तत्त्वेषु | २ | ३ |
| उपदेशतदावेश- | ६ | ११ | तथा हि मातुर्विश्रान्ति- | ४८ | ५८ |
| एकचिन्मात्रसंपूर्ण- | ८० | १०० | तथाहि मातृरूपस्थो | ४५ | ५५ |
| एभिः शब्दैर्व्यवहरन् | ३० | ३४ | तदाधिपत्यं तत्त्याग- | ६६ | ८६ |
| एवं जातो मृतोऽस्मीति | ८२ | १०३ | तदित्थं परमेशानो | ९० | ११६ |

| | पृ. सं. | श्लो. सं. | | पृ. सं. | श्लो. सं. |
|------------------------------|---------|-----------|----------------------------|---------|-----------|
| तदित्थमेष निर्णीतः | ९१ | ११८ | मेयभागगतः प्रोक्तः | ३६ | ४३ |
| तदेव च पदं मन्त्रः | ३७ | ४५ | यच्चैतदध्वनः प्रोक्तं | ७३ | ९२ |
| तद्य एष सतो भावान् | ८९ | ११५ | यत एव च मायीया | ५७ | ७२ |
| तद्विशुद्धं बीजभावात् | ६६ | ८५ | यतोऽतः शिवतत्त्वेऽपि | ७ | १२ |
| तस्मात्प्रतीतिरेवेत्थं | ८५ | १०७ | यतः प्राग्देहमरण- | ७५ | ९५ |
| तेन गुप्तेन गुप्तास्ते | ६४ | ८२ | यत्प्रमाणात्मकं रूपं | ३७ | ४४ |
| तेन ये भावसंकोचं | ८९ | ११४ | यथा पूर्वोक्तभुवन- | १ | २ |
| तेनानन्तो ह्यमायीयो | ५६ | ७१ | यदास्ते ह्यनवच्छिन्नं | १५ | २३ |
| देशे कालेऽत्र वा सृष्टि- | ८७ | १११ | यद्वेद्यं किञ्चिदाभाति | १५ | २४ |
| धरायां गुणतत्त्वान्ते | २७ | २९ | युज्यते सर्वतोदिक्कं | ६ | १० |
| भुवं कवित्ववक्तृत्व- | ६२ | ७९ | वाक्यादिवर्णपुञ्जे स्वे | ५९ | ७६ |
| नगरार्णवशैलाद्या- | ७८ | ९८ | विकल्पस्य स्वकं रूपं | ४८ | ५९ |
| नियतेश्विररूढायाः | ७९ | ९९ | विज्ञानाकल्पपर्यन्त- | ३१ | ३५ |
| निवृत्तिः पृथिवीतत्त्वे | ४ | ८ | विश्रान्तश्चिन्मये किं किं | ६२ | ८० |
| पञ्चमन्त्रतनौ तेन | १२ | २० | शान्तातीता शिवे तत्त्वे | ५ | ९ |
| पदमन्त्रवर्णमेकं | ४१ | ५१ | शालग्रामोपलाः केचित् | ७७ | ९७ |
| परैहसंविदामात्रं | ८३ | १०४ | शिवज्ञानक्रियायत्त- | ४६ | ५६ |
| प्रकृत्य पुमान्यतिः कालो | ३२ | ३७ | शिवतत्त्वमतः शून्या- | १३ | २१ |
| प्रत्यक्षमिदमाभाति | ९ | १६ | शिष्यं च गतभोगाश- | ३५ | ४१ |
| प्रमाणरूपतावेश- | ४९ | ६० | शोधकत्वं च मालिन्या | ७२ | ९० |
| प्रमात्मात्र स्थितोऽध्वार्यं | ५० | ६३ | श्रीमत्कालोत्तरादौ च | ११ | १९ |
| प्रमा यस्य जडोऽसौ नो | ५८ | ७४ | षड्विधः स्वपुःशुद्धौ | ६५ | ८३ |
| प्राहुरावरणं तच्च | ७ | १३ | षोडश वर्णाः पदमन्त्र- | ४२ | ५३ |
| बालास्तिर्यक्प्रमातारो | ५३ | ६६ | संकेतनिरपेक्षास्ते | ५७ | ७३ |
| भिन्नभिन्नामुपाश्रित्य | ५३ | ६७ | संकेता यान्ति चेत्तेऽपि | ५४ | ६८ |
| भूततन्मात्रवर्गादे- | ८४ | १०६ | संकेते पूर्वपूर्वाश- | ६१ | ७८ |
| मणाविन्द्रायुधे भास | ८७ | ११० | सप्तत्रिंशं तु तत्प्राहु- | १३ | २२ |
| मतं चैतन्महेशस्य | ३० | ३३ | सप्तत्रिंशं समाभाति | १७ | २६ |
| मन्त्राणां च पदानां च | ३८ | ४७ | सर्वज्ञत्वादिसिद्धौ वा | ६३ | ८१ |
| मुनितत्त्वार्णं द्विकपद- | ४१ | ५२ | सर्वप्रमाणैर्नो सिद्धं | ८१ | १०१ |

| पृ. सं. श्लो.सं. | | पृ. सं. श्लो.सं. | |
|------------------------|--------|----------------------------|-------|
| सर्वमेतद्विभात्येव | ७४ ९३ | सोऽयं समस्त एवाध्वा | ४५ ५४ |
| सर्वाभिधानसामर्थ्या- | ५१ ६४ | स्वप्नेऽपि प्रतिभामात्र- | ७६ ९६ |
| सा तु पूर्णस्वरूपत्वा- | ३९ ४९ | स्वातन्त्र्यलाभतः स्वाक्य- | ५९ ७५ |
| सांकल्पिकं निराधार- | ८५ १०८ | स्वात्मन्यभिन्ने भगवान् | ३५ ४२ |

इत्येकादशाहिकश्लोकानुक्रमणिका समाप्ता ।

अथ

श्रीतत्रालोक-

द्वादशाह्निकस्यमूलश्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका

| | पृ. सं. | श्लो.सं. | | पृ. सं. | श्लो.सं. |
|------------------------|---------|----------|------------------------|---------|----------|
| अत्र पूजाजपाद्येषु | १०० | १४ | तथा विलोक्यमानोऽसौ | ९७ | ७ |
| अथाध्वनोऽस्य प्रकृत | ९३ | १ | तथैवं कुर्वतः सर्व | ९९ | १२ |
| अनुत्तरपदाप्तये | १०८ | २६ | तदा तथा तेन तत्र | १०२ | १७ |
| अविधिज्ञो विधिज्ञश्चे- | १०१ | १६ | न शक्नोत तथा शङ्का | १०५ | २३ |
| आसंवित्तत्वमाबाह्यं | ९५ | ४ | निष्कम्पत्वे सकम्पस्तु | १०२ | १८ |
| इत्थं घटं पटं लिङ्गं | ९७ | ८ | बहिश्च लिङ्गमूर्त्यभि- | ९४ | ३ |
| इत्थमध्वा समस्तोऽयं | ९४ | २ | यच्चिदात्म प्राणिजातं | १०४ | २२ |
| उच्चाचोत्पलदेवश्च | १०७ | २५ | विचिकित्सा गलयन्त- | १०२ | १९ |
| एवं विश्वाध्वसंपूर्ण | ९६ | ६ | वीरव्रतं चाभिनन्देत् | १०३ | २० |
| कल्पनाशुद्धिसंध्यादे- | १०० | १५ | शास्त्रेषु विततं चैतत् | १०५ | २४ |
| तथार्चनजपध्यान- | ९९ | १३ | संपूर्णतानुसंधान- | ९८ | १० |
| तत्रार्पणं हि वस्तूनां | ९७ | ९ | संसारकारागारान्तः | १०३ | २१ |
| तत्रार्पितानां भावानां | ९८ | ११ | सर्वं सर्वत्र रूपं च | ९६ | ५ |

इति द्वादशाह्निकानुक्रमणिका समाप्ता ।

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते
श्रीजयरथकृतविवेकाख्यटीकोपेते

दशममाह्निकम् ।

तत्तत्त्वविभेदन-

समुद्यतोद्द्योतिनिशितशूलकरः ।

जयति परं जयमूर्तिः

संसारपराजयस्फूर्तिः ॥

इदानीमेषामेव तत्त्वानां द्वितीयार्धेन पाञ्च-
दश्यादिभेदमभिधातुं प्रतिजानीते

उच्यते त्रिकशास्त्रैक-

रहस्यं तत्त्वभेदनम् ॥ १ ॥

तदेवाह

तेषाममीषां तत्त्वानां

स्ववर्गेष्वनुगामिनाम् ।

भेदान्तरमपि प्रोक्तं

शास्त्रेऽत्र श्रीत्रिकाभिधे ॥ २ ॥

भेदान्तरमपि पाञ्चदश्यादिलक्षणमपि — इति पूर्वापेक्षया । ‘श्रीत्रिकाभिधे शास्त्रे’ इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे । तदुक्तं तत्र

‘अथैषामेव तत्त्वानां धरादीनामनुक्रमात् ।

प्रपञ्चः कथ्यते लेशात्... । (मा० वि० २।१)

इत्यादि

‘शिवः साक्षान्न भिद्यते ।’ (मा० वि० २।७)

इत्यन्तम् ॥ २ ॥

तदेवाह

शक्तिमच्छक्तिभेदेन

धराद्यं मूलपश्चिमम् ।

भिद्यते पञ्चदशधा

स्वरूपेण सहानरात् ॥ ३ ॥

कलान्तं भेदयुग्घीनं

रुद्रवत्प्रलयाकलः ।

तद्वन्माया च नवधा

ज्ञाकलाः सप्तधा पुनः ॥ ४ ॥

मन्त्रास्तदीशाः पाञ्चध्ये

मन्त्रेशपतयस्त्रिधा ।

शिवो न भिद्यते स्वैक-

प्रकाशघनचिन्मयः ॥ ५ ॥

‘शक्तिमच्छक्तिभेदेन’ इति शक्तिमतां शक्तीनां च वक्ष्यमाणस्वरूपाणां शिवादीना-
मिच्छादीनां च भेदेन प्रत्येकं सप्तधात्वे चतु-
र्दशात्मना प्रकारेणेत्यर्थः । मूलपश्चिममिति
प्रधानान्तं तत्त्वचतुर्विंशकमित्यर्थः । स्वरूपे-
णेति स्वं रूपं मातृमानाद्यनुपरक्तं बहीरूपतया
परिदृश्यमानजडस्वभावं यथा पृथिव्या गन्धा-
दिगुणोत्कटम् । यद्वक्ष्यति

‘तत्र स्वरूपं भूमेर्यत्पृथग्जडमवस्थितम् ।

मातृमानाद्युपधिभिरसंजातोपरागकम् ॥’ (१०।८)

इति । आ नरादिति पुंस्तत्त्वादारभ्य कला-
न्तं तत्त्वषट्कमित्यर्थः । भेदयुग्धीनमिति भेदयु-

गमरहितं त्रयोदशविधमिति यावत् । इह यद्य-
पि सर्वं सर्वात्मकमिति सर्वत्र पञ्चदशात्मकत्व-
मेव न्याय्यं, तथाप्यधराधरतत्त्वक्रोडीकारेण
प्रतितत्त्वं प्राक् पूर्णेन रूपेण परसंवित्समुल्ल-
सेत् येनोत्तरोत्तरत्र पूर्वपूर्वस्थितिरव्यभिचारेण
भवेत्, अन्यथा हि

‘यत्तत्र नहि विश्रान्तं तन्नभःकुसुमायते ।’ (तं०८।३)

इत्याद्युक्तयुक्तया धरादेस्तत्त्वजातस्य सत्तैव न
स्फुरेत् । उत्तरोत्तरं पुनस्तत्त्वजातं पूर्वपूर्वस्मि-
न्नुपे विलीनं सत् क्रमेण संविद्येव विश्राम्येत्
यथायथं तस्या एवोद्रेकात्, अत एव संविद्वि-
श्रान्तत्वान्न तत्पृथग्भोगं दातुमलम्, — इति
तदीयं भेदद्वयं न्यूनतामियात्, येनात्र सश-
क्तिकस्य प्रलयाकलादेः षट्कस्य प्रमातृत्वात्
सकलस्य च सशक्तिकस्य स्वरूपीभूतत्वात्त्रयो-
दशविधत्वमेव स्यात् । यदुक्तं

‘विश्वात्मके हि विश्वस्मिन् या संविदवलोकयेत् ।

निजवीर्यमहास्फारं समवष्टम्भयोगतः ॥

विशिष्टकार्यसंपत्त्यै प्राक्तत्रोदेति सा हठात् ।

अधराधरतत्त्वेषु स्थिता पूर्वस्थितिर्यतः ॥

अन्यथा स्थितिरेवैषां न भवेत्पूर्वहानितः ।
 पूर्वस्वरूपे त्वधरं विलीनं तत्त्वजालकम् ॥
 भोगाय नालमित्येवं न्यूनत्वं तत्र भेदगम् ।'

इति । सशक्तिकश्च सकलः स्वरूपीभूतः सन्
 स्वरूपमेव न तथा भिन्द्यात् । भेदो हि प्रति-
 योगिनमधिकृत्य परत्र भेदसंकलनां विदध्यात्,
 यथेदं मेयम्, इदं मानम्, अयं माता—इति ।
 मेयस्य पुनर्मेयता स्वात्मनि न कश्चिद्भेदः ।
 एवं स्वरूपस्य स्वात्मनि भेदाभावात् युक्तमुक्तं
 क्रमेण भेदद्वयह्वास इति । यदुक्तम्

‘भेदा हि न स्वरूपं भिन्दन्त्यपि तु भेदसंकलनाम् ।
 अन्यत्र प्रतियोगिनि विदधति हि परत्र तेन तदभावात् ॥
 निजगतभेदद्वितयीनिरास उक्तः क्रमेणेह ।
 परिपूर्णे शिवतत्त्वे भेदाभावादभेद्यता तेन ॥’

इति । रुद्रवदिति रुद्रशब्देन लक्षितामेकाद-
 शसंख्यामर्हतीति वत्यन्तम् । प्रलयाकल इत्य-
 र्थात्स्वरूपीभूतः । एवमुत्तरत्र विज्ञानाकलादा-
 वपि ज्ञेयम् । अत एवात्र विज्ञानाकलादीनां
 पञ्चानामेव प्रमातृत्वं येनैकादशविधत्वम् ।
 मायेति तात्स्थ्याद्वितीयोऽपवेद्यः प्रलयाकल उ-
 च्यते तेन सोऽप्येकादशविध एवेत्यर्थः । नव-

धेति सशक्तीनां चतुर्णां मन्त्रादीनां प्रमातृ-
 त्वात् । सप्तधेति सशक्तिकस्य मन्त्रेश्वरादेस्त्रय-
 स्य प्रमातृत्वात् । तदीशाः मन्त्रेश्वराः । पाञ्च-
 ध्ये इति मन्त्रमहेश्वरशिवयोरेव सशक्तिकयोः
 प्रमातृत्वात् । त्रिधेति शिवस्यैव सशक्तिकस्य
 प्रमातृत्वात् । शिवस्य भेदाभावे हेतुः 'स्वैकप्र-
 काशघनचिन्मय' इति । भेदो हि प्रतियोग्य-
 पेक्षः, न च परं प्रकाशमपेक्ष्य अन्यः कश्चित्प्र-
 तियोगी संभवेदिति समनन्तरमेवोक्तमित्या-
 स्तामेतत् । उक्तं च

'शक्तिमच्छक्तिभेदेन धरातत्त्वं विभिद्यते ।

स्वरूपसहितं तच्च विज्ञेयं दशपञ्चधा ॥'

(मा० वि० २१२)

इति ।

'एवं जलादिमूलान्तं तच्चव्रातमिदं महत् ।

पृथग्भेदैरिमैर्भिन्नं विज्ञेयं तत्फलेप्सुभिः ॥

अनेनैव विधानेन पुंस्तत्त्वात्तत्कलान्तकम् ।

त्रयोदशविधं ज्ञेयं रुद्रवत्प्रलयाकलः ॥

तद्वन्मायापि विज्ञेया नवधा ज्ञानकेवलाः ।

मन्त्राः सप्तविधास्तद्वत्पञ्चधा मन्त्रनायकाः ॥

त्रिधा मन्त्रेश्वरेशानाः शिवः साक्षान्न भिद्यते ।'

(मा० वि० २१७)

इति च ॥ ३-५ ॥

ननु के ते 'शक्तिमच्छक्तिभेदेन' इत्यासू-
त्रिताः शक्तयः शक्तिमन्तश्च येन भुवः पञ्चद-
शात्मकत्वं स्यादित्याशङ्क्याह

शिवो मन्त्रमहेशेश-

मन्त्रा अकलयुक्कली ।

शक्तिमन्तः सप्त तथा

शक्तयस्तंचतुर्दश ॥ ६ ॥

स्वं स्वरूपं पञ्चदशं

तद्भूः पञ्चदशात्मिका ।

ईशा मन्त्रेश्वराः, अकलयुग्विज्ञानाकलप्रल-
याकलौ, कली सकलः, शक्तय इत्यर्थात्
शिवादिसंबन्धिन्य इच्छाद्याः सप्त । तदुक्तम्

'शिवादिसकलात्मान्ताः शक्तिमन्तः प्रकीर्तिताः ।

तच्छक्तयश्च विज्ञेयास्तद्वदेव विचक्षणैः ॥'

(मा० वि० २।३)

इति । स्वं स्वरूपमिति अर्थात्पृथिव्यादेः ॥ ६ ॥

नन्वस्मद्दर्शने नरशक्तिशिवात्मकमेव विश्व-
मिति सर्वत्रोद्घोष्यते, तत्कथमिह सिद्धान्त-

दर्शनादिसमुचितं प्रमातृभेदमवलम्ब्यैतदुक्त-
मित्याशङ्कां गर्भीकृत्यैतदुपपादयति

तथाहि तिस्रो देवस्य

शक्तयो वर्णिताः पुरा ॥ ७ ॥

ता एव मातृमामेय-

त्रैरूप्येण व्यवस्थिताः ।

त्रैरूप्यमेव वर्णयति

परांशो मातृरूपोऽत्र

प्रमाणांशः परापरः ॥ ८ ॥

मेयोऽपरः शक्तिमांश्च

शक्तिः स्वं रूपमित्यदः ।

अद इति वाक्यार्थपरामर्शः, तेन मातृरूपः
परांशः शक्तिमान्, प्रमाणरूपः परापरांशः
शक्तिर्मेयरूपोऽपरांशः स्वरूपमिति । यत्पुनः
शक्तिमतां शक्तीनां च सप्तविधत्वमुक्तं तदवा-
न्तरप्रकारप्रायमित्यत्र मौलं^१ नरशक्तिशिवात्म-
कत्वमेव स्थितमिति न कश्चिद्दोषः ॥ ८ ॥

एवमेषा शक्तिमदादीनां मध्यात्स्वरूपं
 तावत्प्रथमं लक्षयति

तत्र स्वरूपं भूमेर्य-

त्पृथग्जडमवस्थितम् ॥ ९ ॥

मातृमानाद्युपधिभि-

रसंजातोपरागकम् ।

असंजातोपरागकमिति, तदुपरक्तत्वे हि
 शक्तिमदादिरूपत्वमेव स्यादित्याशयः ॥ ९ ॥

एवमस्यैकध्येऽपि अवान्तरचतुर्दशभिन्नत्वे
 शक्तिमन्तः शक्तयश्च निमित्तमित्याह

सकलादिशिवान्तैस्तु

मातृभिर्वेद्यतास्य या ॥ १० ॥

शक्तिमद्भिरनुद्भूत-

शक्तिभिः सप्त तद्भिदः ।

सकलादिशिवान्तानां

शक्तिषूद्रेचितात्मसु ॥ ११ ॥

वेद्यताजनिताः सप्त भेदा इति चतुर्दश ।

अनुद्भूतशक्तिभिरित्यनेनात्र शक्तिमतां प्राधान्यं कटाक्षितम् । उद्रेचितात्मस्वित्यनेन तु शक्तीनाम् । वस्तुतो हि शक्तितद्रतोः परस्परमवियोग एव, किंतु प्राधान्यमेव प्रयोजकीकृत्य तथाव्यपदेशो यदयं शक्तिमान् इयं शक्तिरिति ॥

ननु सकलादिप्रमातृसप्तकं सर्वत्र प्रसिद्धमित्यास्तां को दोषः, तच्छक्तयस्तु न क्वचिदपि परिपठिताः, इति कास्ताः, -इत्याशङ्क्याह

सकलस्य प्रमाणांशो

योऽसौ विद्याकलात्मकः ॥१२॥

सामान्यात्मा स शक्तित्वे

गणितो नतु तद्भिदः ।

लयाकलस्य मानांशः

स एव परमस्फुटः ॥ १३ ॥

ज्ञानाकलस्य मानं तु
गलद्विद्याकलावृत्ति ।

अशुद्धविद्याकलना-
ध्वंससंस्कारसंगता ॥ १४ ॥

प्रबुभुत्सुः शुद्धविद्या
मन्त्राणां करणं भवेत् ।

प्रबुद्धा शुद्धविद्या तु
तत्संस्कारेण संगता ॥ १५ ॥

मानं मन्त्रेश्वराणां स्या-
त्तत्संस्कारविवर्जिता ।

मानं मन्त्रमहेशानां
करणं शक्तिरुच्यते ॥ १६ ॥

स्वातन्त्र्यमात्रसद्भावा
या त्विच्छा शक्तिरैश्वरी ।

शिवस्य सैव करणं
तया वेत्ति करोति च ॥ १७ ॥

सामान्यात्मेति विद्याकलाभ्यामेव बुद्धि-
कर्मेन्द्रियलक्षणस्य विशेषात्मनः प्रसरस्य
संग्रहात्, अत एवोक्तं 'नतु तद्भिदः' इति ।
एवं हि तत्तद्व्यापारभेदादनन्ताः शक्तयो भवे-
युरिति भावः । उक्तं च प्राक्

'तेनाशुद्धैव विद्यास्य सामान्यं करणं पुरा ।
ज्ञप्तौ कृतौ तु सामान्यं कला करणमुच्यते ॥'

(तं० ९।२४४)

इति । स एवेति विद्याकलात्मकः, परम-
स्फुट इति, इयान्विशेषः, स हि प्रसुप्तभुजग-
प्राय इत्यभिप्रायः । गलदिति गलन्त्यौ विना-
शोन्मुखे इत्यर्थः । प्रबुभुत्सुरिति नतु प्रबुद्धा,
एवं ह्यशुद्धविद्याकलाध्वंससंस्कारसंगमोऽस्या
न स्यात् । प्रबुद्धत्वे हि अशुद्धविद्याकलाध्वंस-
संस्कारस्यापि नश्यदवस्थात्मना संस्कारेणास्याः
संगमो भवेत् । अत उक्तं 'तत्संस्कारेण संगता'
इति । तत्संस्कारविवर्जितेति, तेन नश्यदव-
स्थात्मनापि संस्कारेण विवर्जिता प्रनष्टतत्सं-
स्कारेत्यर्थः । नहि इदानीमशुद्धविद्यादेर्गन्ध-
मात्रमपि संभवेदिति भावः । मानमित्यर्था-

च्छुद्धविद्या, मानमेव च करणमिति शक्ति-
रिति च तत्र तत्र व्यपदिश्यते, — इत्युक्तं 'करणं
शक्तिरुच्यते' इति । स्वातन्त्र्यमात्रसद्भावेति,
तदुक्तं प्राक्

‘एक एवास्य धर्मोऽसौ सर्वाक्षेपेण वर्तते ।

तेन स्वातन्त्र्यशक्त्यैव युक्त इत्याजसो विधिः ॥’

(तं० १।६७)

इति । अत एवैश्वरीत्युक्तं, तथा वेत्ति
करोति चेति सर्वशेषः, यत्सकलोऽपि अशुद्ध-
विद्याकलात्मिकयैव शक्त्या वेत्ति करोति चेति,
एवमन्यज्ज्ञेयम् ॥ १२—१७ ॥

एवं प्रसङ्गात्सकलादिशक्तीनां स्वरूपमभि-
धाय प्रकृतमेवाह

आ शिवात्सकलान्तं ये

मातारः सप्त ते द्विधा ।

न्यग्भूतोद्भक्तशक्तित्वा-

त्तद्भेदो वेद्यभेदकः ॥ १८ ॥

ननु प्रमातृभेदाद्यदि वेद्यस्यापि भेदो
भवेत् तदनेकेषु प्रमातृषु एकमेव नीलं विदितं

न स्यादपितु भिन्नभिन्नं, न चैवमस्ति नहि
 तत्तद्देशकालावस्थाप्रमातृभेदेऽपि नीलस्य स्वा-
 त्मनि कश्चिद्विशेषः संलक्ष्यते, इत्याशङ्कां
 गर्भीकृत्यैतदेवोपपादयति

तथाहि वेद्यता नाम

भावस्यैव निजं वपुः ।

अनेन चानुजोद्देशोद्दिष्टस्य वस्तुधर्माख्यस्य
 प्रमेयस्यासूत्रणं कृतम् ॥

नन्वसिद्धेयं प्रतिज्ञा नहि नीलज्ञाने नीलस्य
 कश्चिद्विशेषः, अपितु प्रमातुस्तस्य पूर्वम-
 ज्ञत्वेऽनन्तरं ज्ञत्वोत्पत्तेः, यदपि

‘प्रत्यक्षतां परोक्षोऽपि प्रत्यक्षोऽपि परोक्षताम् ।

देशकालादिभेदेन विषयः प्रतिपद्यते ॥’

इत्याद्युक्त्या विषयस्य प्रत्यक्षत्वं परोक्षत्वं वा
 धर्म उच्यते तदपि प्रमात्रतिशयाभिप्रायमेवे-
 त्याशङ्क्यात्रैव हेतुमाचष्टे

चैत्रेण वेद्यं वेद्मीति

किंह्यत्र प्रतिभासताम् ॥ १९ ॥

नीलं वेद्मीत्यत्र केवलनीलप्रथायां वेद्यताया

विषयधर्मत्वं मा विज्ञायि, चैत्रेण वेद्यं नीलं
वेद्मीत्यस्यां तु प्रथायां किं नीलमात्रं प्रथते
किमुत चैत्रवेद्यताविशिष्टं नीलमिति । तत्राद्ये
नीलं वेद्मि चैत्रवेद्यं नीलं वेद्मीत्यनयोः प्रती-
त्योरविशेषः स्यात्, न चैवमनुभवविरोधात् ।
द्वितीये तु चैत्रवेद्यता नीलस्य किं स्वगता
विशेषणमुत प्रमातृगता, न तावत्प्रमातृगता
व्यधिकरणयोर्भिन्नकक्ष्यत्वेन विशेषणविशेष्य-
भावायोगात्, स्वगतत्वे तु सिद्धः प्रतिज्ञार्थो
‘वेद्यता भावस्य निजं वपुः’ इति ॥ १९ ॥

ननु व्यधिकरणत्वेऽपि ज्ञातोऽर्थ इति तथा
प्रतीतेरस्तु विशेषणविशेष्यभावः, चैत्रेण वेद्यं
नीलं वेद्मीत्यस्यां हि प्रथायां चैत्रेण ज्ञातमर्थं
जानामीत्युक्तं भवेत्, ज्ञानं च प्रमातुरेवाति-
शयो न प्रमेयस्येत्युक्तप्रायं तदाह

ननु चैत्रीयविज्ञान-

मात्रमत्र प्रकाशते ।

वेद्यताख्यस्तु नो धर्मो

भाति भावस्य नीलवत् ॥ २० ॥

अत्रेति नीलादौ विषये ॥ २० ॥

ननु ज्ञानं नाम क्रिया, सा च फलानुमेया,
फलं च प्रकटताख्यं विषयधर्मः सैव च
वेद्यतेति कौमारिलं मतमाशङ्क्य प्रतिक्षिपति

वेद्यता च स्वभावेन

धर्मो भावस्य चेत्ततः ।

सर्वान्प्रत्येव वेद्यः स्या-

घटनीलादिधर्मवत् ॥ २१ ॥

घटनीलादीति भावप्रधानो निर्देशः । एवं
हि भावस्य घटत्वं संनिवेशो नीलत्वं रूपम्,
आदिग्रहणात्कार्यत्वकारणत्वादीत्येवमादयो ध-
र्मा यथा सर्वान्प्रत्यविशिष्टास्तथा वेद्यताख्यो
धर्मो भवेदित्यन्धाद्यभावः प्रसज्येत सर्वे च
सर्वज्ञाः स्युः ॥ २१ ॥

ननु नियतप्रमातृबुद्धिजन्यत्वात्कंचिदेव
प्रति वेद्यत्वं स्यात् न सर्वान्प्रति,—इति
चेन्मैवम्, एवमपि हि यथा कुविन्दजन्यः
पटो न तमेव प्रति सर्वाविशेषात् तथा वेद्य-

तापि सर्वाविशेषेणैव भवेत्, नतु येन जन्यते
तं प्रत्येवेति नियमो युक्तस्तदाह

अथ वेदकसंवित्ति-

बलाद्वेद्यत्वधर्मभाक् ।

भावस्तथापि दोषोऽसौ

कुविन्दकृतवस्त्रवत् ॥ २२ ॥

दोषोऽसाविति सर्वान्प्रति तथा स्यादिति ।
ननु द्वित्वादिवत् कथं नात्र नियतप्रमात्र-
पेक्षाबुद्धिजन्यत्वे वेद्यत्वस्येव वेदकत्वस्यापि
तथाभावो भवेत् वेद्यवेदकयोरन्योन्यापेक्ष-
त्वात्, न चैतदस्ति वेदकस्येव वेद्यस्याचैतन्येन
बुद्ध्ययोगात्; अतश्च स्थूलतया द्वित्वादिवदपे-
क्षाबुद्धिजन्यत्वमनाशङ्क्य भङ्ग्यन्तरेण तत्प्रति-
समाहितम् । यदि च नाम भावस्य नीलत्वा-
दिवद्वेद्यताख्योऽपि धर्मो भवेत् तत्किमसौ
वेद्यो न वा अवेद्यत्वे न किञ्चित्स्यात्, नहि
संविदमनारूढं वस्तु वस्तुत्वं लभते, - इत्युक्त-
मन्यत्र बहुशः, अथ वेद्यस्तु तस्यापि
नीलत्वादिवद्वेद्यत्वेन भाव्यमन्यथा ह्यविदित

एव स्यात्; एवं च तत्राप्यन्यद्वेद्यत्वं तत्राप्य-
न्यदिति मूलक्षतिकारिणी व्यक्तमनवस्था
स्यात्, येन कस्यचिदप्यर्थस्य वेद्यता न
घटेतेति मूर्छितप्रायं विश्वं पर्यवस्येत् । तदाह

वेद्यतारुख्यस्तु यो धर्मः

सोऽवेद्यश्चेत्स्वपुष्पवत् ।

वेद्यश्चेदस्ति तत्रापि

वेद्यतेत्यनवस्थितिः ॥ २३ ॥

ततो न किञ्चिद्वेद्यं स्या-

न्मूर्छितं तु जगद्भवेत् ।

ननु तत्तन्नियतोपाधिवशाद्यथा ज्ञानस्य
तत्तदर्थप्रकाशकं रूपं येन 'इदं नीलज्ञानमिदं
पीतज्ञानम्' इति प्रतिकर्म नियमः स्यात्,
तथा भावस्यापि प्रतिनियतप्रमात्रुपाध्युपस्कृत-
मेव रूपमुच्यतां येन संबन्धिनियमः सिद्ध्येत्
अयं चैत्रस्यैव वेद्योऽयं मैत्रस्य चेति । तदाह

ननु विज्ञात्रुपाध्यंशो

पस्कृतं वपुरुच्यताम् ॥ २४ ॥

भावस्यार्थप्रकाशात्म

यथा ज्ञानमिदं त्वसत् ।

उपाध्यंशेति विज्ञातृणामानैक्यात्, नचैत-
द्युक्तम्; एवं हि बाह्यस्यार्थस्य तत्तन्नियतो-
पाध्युपस्कृतरूपत्वात् ज्ञानवद्भेदः प्रसज्येत,
चैत्रवेद्योऽन्योऽन्यश्च मैत्रवेद्योऽर्थ इति । नहि
तदेव नीलज्ञानं भूत्वा पीतज्ञानं भवितुमर्हति,
न चैतदिष्टं वः सर्वस्यार्थस्य बहिरेकत्वेनैव
सत्त्वाभ्युपगमात् । एवं च किमयमेकप्रमातृ-
वेद्यतोपरक्त उत सर्वप्रमातृवेद्यतोपरक्तः ।
तत्रैकप्रमातृवेद्यतोपरक्तत्वेनान्यस्य प्रमातुरसा-
ववेद्यः स्यात्, अनेकप्रमातृवेद्यत्वोपरक्तत्वेऽपि
एकैकधयेन न कस्यचिदपीति सर्वात्मना
मूर्च्छितमेव जगद्भवेत् ॥ २४ ॥

तदाह

एकविज्ञातृवेद्यत्वे

न ज्ञात्रन्तरवेद्यता ॥ २५ ॥

समस्तज्ञातृवेद्यत्वे
नैकविज्ञातृवेद्यता ।

अतो न वेद्यत्वं नाम भावस्य किञ्चि-
दित्याह

तस्मान्न वेद्यता नाम

भावधर्मोऽस्ति कश्चन ॥ २६ ॥

ननु यद्येवं तर्हि भावः कथं विदिक्रियाक-
र्मतामियादित्याशङ्क्याह

भावस्य वेद्यता सैव

संविदो यः समुद्भवः ।

नन्वन्या संविदन्यश्चार्थस्तत्कथमन्यस्य स-
मुद्भवेऽन्यस्य वेद्यताख्योऽतिशयः, नहि घटस्यो-
दये पटस्य किञ्चित्स्यात्, संविच्चात्मनामवि-
शिष्टा, - इति तत्समुद्भवः सर्वेषामप्यविशे-
षेणैव भवेदिति संबन्धिनियमोऽपि न सिद्ध्ये-
दित्याशङ्क्याह

अर्थग्रहणरूपं हि

यत्र विज्ञानमात्मनि ॥ २७ ॥

समवेति प्रकाशयोऽर्थ- स्तं प्रत्येषैव वेद्यता ।

इह खलु ज्ञानस्यार्थजन्यत्वादर्थविषयत्वं
जनकत्वस्य चक्षुरादिभिरविशेषेऽपि वस्तु-
स्वाभाव्याद्विषयत्वनियमो येन 'इदं नील-
ग्रहणमिदं पीतग्रहणम्' इति स्यात्, तच्चैवं-
विधं दृष्टादृष्टात्मविशिष्टसामग्रीबलात् यत्र
प्रत्यगात्मनि अयुतसिद्धतया वर्तते तमेव प्रति
सोऽर्थः प्रकाशयमानो भवेत्, एषैव चार्थस्य
वेद्यतोच्यत इति न कश्चिद्दोषः ॥ २७ ॥

एतदेव प्रतिविधत्ते

अत्र ब्रूमः पदार्थानां

न धर्मो यदि वेद्यता ॥ २८ ॥

अवेद्या एव ते संस्यु-

ज्ञाने सत्यपि वर्णिते ।

अर्थग्रहणरूपेऽप्यात्मसमवेते ज्ञाने सती-
त्यर्थः । एवमपि ह्यर्थस्य न किञ्चित्, नहि

ज्ञानार्थयोरेकरूपत्वमेकाधिकरणत्वं वा ग्राह्य-
ग्राहकात्मतयानयोः स्वरूपभेदात्, ज्ञानस्य
चार्थग्रहणात्मकत्वेऽपि ज्ञातृसमवेतत्वात्, यद्-
भिप्रायमेव च

‘.....परावस्था हि भासनम्’ ।

इत्याद्यन्यैरुक्तम् । न चान्यस्यातिशयेऽ-
न्यस्य किञ्चित्स्यात्, अथार्थजन्यत्वात् ज्ञान-
मर्थस्य प्रकाश इति चेन्नैतत्, नहि यो यज्जन्यः
स तस्य प्रकाशो भवति वह्नेरिव धूमः स परं
तद्गतो लिङ्गं भवेत् । यद्यविनाभावो निश्चीयेत,
न चेह तन्निश्चयोऽस्ति विनाप्यर्थं भ्रान्त्यादौ
तत्प्रकाशात्मनो ज्ञानस्योदयात्, अतश्च युक्त-
मुक्तम् ‘अवेद्या एव पदार्थाः स्युः’ इति ॥२८॥

एतदेव दृष्टान्तोपदर्शनद्वारेण द्रढयति

यथाहि पृथुबुधादि-

रूपे कुम्भस्य सत्यपि ॥ २९ ॥

अतदात्मा पटो नैति

पृथुबुधादिरूपताम् ।

तथा सत्यपि विज्ञाने

विज्ञातृसमवायिनि ॥ ३० ॥

अवेद्यधर्मका भावाः

कथं वेद्यत्वमाप्नुयुः ।

यथा खलु घटस्य पृथुबुधोदराकारत्वमस्ति
इत्यातानवितानवत्त्वात् अपृथुबुधोदराकारः प-
टस्ताद्रूप्यं न यायात्, तथा ज्ञातृसमवायिन्य-
र्थप्रकाशात्मकेऽपि ज्ञाने स्वयमप्रकाशरूपा भावा
नैव प्रकाशमाना भवेयुरिति वाक्यार्थः ॥३०॥

एवं न केवलं भवन्मतेऽर्थ एव न प्रकाशते
यावन्न किञ्चिदपीति महद्दूषणान्तरमप्यापते-
दित्याह

अनर्थः सुमहांश्चैष

दृश्यतां वस्तु यत्स्वयम् ॥३१॥

प्रकाशात्म न तत्संवि-

च्चाप्रकाशा तदाश्रयः ।

अप्रकाशो मनोदीप-

चक्षुरादि तथैव तत् ॥ ३२ ॥

किं तत्प्रकाशतां नाम

सुप्ते जगति सर्वतः ।

ईह बाह्यं निमित्तकारणं वस्तु तावद-
प्रकाशात्मकमिति नास्ति विवादः, एतद्विषयं
कार्यं ज्ञानमप्यप्रकाशात्मकमेव विषयप्रकाश-
काले तत्प्रकाशस्याप्रकाशनात् । नहि विषय-
ग्रहणकाले तज्ज्ञानस्य ग्रहणमस्ति ज्ञानार्थयो-
र्युगपदप्रतिभासात् । तदाहुः

‘न वै युगपदाकारद्वितयं प्रतिभासते ।

इदं ज्ञानमयं चार्थं इति भेदानुपग्रहात् ॥’

इति । तदाश्रयश्च समवायिकारणमात्मा
विषयवन्निमित्तकारणतया विवक्षितं सहकारि-
भूतं मनश्चक्षुराद्यन्तःकरणचक्रमपि अप्रकाशा-
त्मकमेव नित्यपरोक्षत्वात्, दीपश्च निमित्त-
कारणभूतो यद्यपि भवन्मते परस्येव स्वस्यापि
प्रकाशकस्तथाप्यविदित एवासौ तथा न

भवेत्, वेद्यत्वमेव च विचारयितुमुपक्रान्त-
मित्यर्थवदस्यापि वार्तेत्येवमुक्तम् । अतश्चार्थ-
प्रकाशने समग्रैव सामग्रीयमप्रकाशरूपैवेति न
किञ्चिदपि प्रकाशेतेति सर्वमिदमन्धं स्यात् ।
आत्ममनसोश्च पारोक्ष्यात् तत्संयोगोऽपि अस-
मवायिकारणमप्रकाश एवेति गतार्थत्वात् पृथ-
गत्र नोक्तः ॥

ननु प्रदीपस्यैव ज्ञानस्यार्थप्रकाशकत्वमेव
रूपं तत्कस्येदं चोद्यम् 'अर्थप्रकाशात्मके ज्ञाने
सत्यपि नार्थः प्रकाशते' इति, अपर्यनुयोज्यो
हि भावानां स्वभावः । तदाह

ज्ञानस्यार्थप्रकाशत्वं

ननु रूपं प्रदीपवत् ॥ ३३ ॥

इह चैत्रो जीवति इति यथा चैत्रस्यैव
जीवनाख्योऽतिशयो न परस्य तथा 'अर्थः प्रका-
शते' इत्यर्थस्यैव कश्चिदतिशयो न ज्ञानस्ये-
त्याशयेनैतदेवोपहासपुरःसरं सदसदनेकपक्षो-
दङ्कनक्रमेण समाधत्ते

अपूर्वमत्र विदितं

नरीनृत्यामहे ततः ।

अर्थप्रकाशो ज्ञानस्य

यद्रूपं तन्निरूप्यताम् ॥ ३४ ॥

अर्थः प्रकाशश्चेद्रूप-

मर्थो वा ज्ञानमेव वा ।

अथार्थस्य प्रकाशो य-

स्तद्रूपमिति भण्यते ॥ ३५ ॥

यन्नामेदमुच्यते ज्ञानस्यार्थप्रकाशो रूप-
मिति तत्र कोऽर्थ इति विचार्यताम्, किमर्थ-
श्चासौ प्रकाशश्चेति सामानाधिकरण्यम्, अथा-
र्थश्च प्रकाशश्चेति समुच्चय आहोस्विदर्थस्य
प्रकाश इति संबन्धमात्रम् ॥ ३५ ॥

तत्र संभवमात्रेणाशङ्कितमप्याद्यं पक्षद्वयं
परस्यानभिप्रेतमित्यप्रतिक्षिप्य तृतीयमेव पक्षं
प्रतिक्षेप्तुं विभजति

षष्ठी कर्तरि चेदुक्तो

दोष एव दुरुद्धरः ।

अथ कर्मणि षष्ठ्येषा

ण्यर्थस्तत्र हृदि स्थितः ॥ ३६ ॥

यदि नामार्थस्य प्रकाशनक्रियायां कर्तृत्वं तत्कथं ज्ञानस्यैवमतिशयः, नह्यन्यस्यातिशये-
ऽन्यस्य किञ्चिदित्युक्तं बहुशः । तत् 'यथा हि पृथुबुधादिरूपे कुम्भस्य सत्यपि' (१० । २९ श्लो०) इत्यादिनोक्तः परस्य पररूपोपग्रहात्मा दुरुद्धरो दोषः प्रसज्येत । अथ प्रकाशनक्रिया-
यामर्थस्य कर्मत्वं तर्ह्यणावकर्मकस्य णौ कर्मो-
त्पत्तेः 'ज्ञानमर्थं प्रकाशयति' इति सिद्धः प्रेषणाध्येषणादिविलक्षणस्तत्समर्थाचरणल-
क्षणः प्रयोज्यप्रयोजकव्यापारभावः ॥ ३६ ॥

एवं च प्रयोजकव्यापारस्य प्रयोज्यव्यापार-
निष्ठत्वात् प्रकाशमान एवार्थो ज्ञानेन प्रकाशते
इति, तच्च न युक्तं स्वयं प्रकाशमानस्यार्थस्य प्रयो-
जकव्यापारानपेक्षणे ज्ञानोपयोगवैयर्थ्यात् । अ-

थाप्रकाशमान एवार्थः स्वपुष्पादिवैलक्षण्येन योग्यतया प्रकाशमान इति सव्यापार इति प्रयोज्य इति चोच्यते; तदप्ययुक्तमेव स्वयमप्रकाशमानस्याश्वेतप्रासादश्वेतनवत्परोपयोगेऽपि प्रकाशनासामर्थ्यात् । योग्यता च प्रकाशाप्रकाशरूपतया निरूप्यमाणा पुनरप्यसामर्थ्यवैयर्थ्ये नातिक्रामतीत्यर्थस्य प्रकाशो ज्ञानस्य रूपमित्येतदसमीचीनम् । तदाह

तथा चेदं दर्शयामः

किं प्रकाशः प्रकाशते ।

अप्रकाशोऽपि नैवासौ

तथापि च न किञ्चन ॥ ३७ ॥

तत्र प्रकाशः किं प्रकाशते वैयर्थ्यान्न प्रकाशते इत्यर्थः, अप्रकाशोऽप्यसावसामर्थ्यान्नैव प्रकाशते इति संबन्धः । एवं सति प्रकाशयो बाह्योऽर्थः प्रकाशकं च ज्ञानं न किञ्चित्स्यादित्युक्तं 'तथापि च न किञ्चन' इति ॥ ३७ ॥

ननु यद्येवं तत्कथं लोकेऽपि देवदत्तश्चैत्रं
ग्रामं नयतीत्यादौ प्रसिद्धः प्रयोज्यप्रयोजक-
भावो घटत इत्याह

तर्हि लोके कथं प्यर्थः

गच्छत्यगच्छति वा प्रयोज्ये प्रयोजक-
व्यापारेण न किञ्चिद्भवेदिति भावः ॥

अत्रैवोत्तरयति

उच्यते चेतनस्थितौ ।

मुख्यो प्यर्थस्य विषयो

जडेषु त्वौपचारिकः ॥ ३८ ॥

इह प्रेर्यप्रेरकोभयाभिप्रायपरमार्थस्तावत्
प्यर्थः, तत्र प्रेर्यस्य स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तक्रियत्वेऽपि
पारतन्त्र्यपरामर्शलक्षणः, प्रेरकस्य च स्वतन्त्रेऽपि
प्रेर्ये समधिगततत्पारतन्त्र्यस्य स्वात्मनि अपे-
क्षणीयतापरामर्शलक्षणोऽभिप्रायः, येनोभया-
भिप्रायमेलनारूपः प्रयोज्यप्रयोजकभावात्मा
मुख्यः संबन्धः समुल्लसति । यत्र पुनः प्रयो-
ज्यस्य प्रयोजकस्योभयस्य वा जडत्वाद्नु-

संधिप्राणितोऽभिप्रायो न संभवति तत्रासौ
 नास्त्येव, लक्षणया तु तत्र तत्र तथा व्यवह-
 र्तव्यो यथा—शरं गमयति कारीषोऽध्यापयति
 वायुरद्रिं पातयतीति ॥ ३८ ॥

तदाह

तथाहि गन्तुं शक्तोऽपि

चैत्रोऽन्यायत्ततां गतेः ।

मन्वान एव वक्त्यस्मि

गमितः स्वामिनेति हि ॥ ३९ ॥

स्वाम्यप्यस्य गतौ शक्तिं

बुद्ध्वा स्वाधीनतां स्फुटम् ।

पश्यन्निवृत्तिमाशंक्य

गमयामीति भाषते ॥ ४० ॥

प्रेर्यप्रेरकयोरेवं

मौलिकी ण्यर्थसंगतिः ।

तदभिप्रायतोऽन्योऽपि

लोके व्यवहरेत्तथा ॥ ४१ ॥

शरं गमयतीत्यत्र

पुनर्वेगाख्यसंस्क्रियाम् ।

विदधत्प्रेरकम्मन्य

उपचारेण जायते ॥ ४२ ॥

वायुरद्रिं पातयती-

त्यत्र द्वावपि तौ जडौ ।

द्रष्टृभिः प्रेरकप्रेर्य-

वपुषा परिकल्पितौ ॥ ४३ ॥

प्रेर्यप्रेरकयोरिति शरं गमयतीति, वायुरद्रिं
पातयतीति च । निवृत्तिमाशङ्क्येति, गन्तुं
शक्तत्वेऽपि औदासीन्यादिना कदाचिन्न गच्छे-
दित्यर्थः । अतश्च गच्छत्यपि प्रयोज्ये प्रयोज-
कव्यापारेणावश्यभाव्यमिति भावः । एव-
मिति, प्रयोज्यप्रयोजकयोरभिप्रायमेलनये-
त्यर्थः । तदभिप्रायत इति मुख्यण्यर्थरूप-
तामनुसंधायेत्यर्थः । अन्योऽपि लोक इति,
प्रयोज्यप्रयोजकाभ्यामपरस्तटस्थोऽपीति या-

वत् । तथेति प्रयोज्यप्रयोजकभावेन, वेगाख्य-
 संस्क्रियां विदधदिति, आकर्षणमोक्षणादा-
 विच्छाप्रयत्नादिमान् धानुष्कः । आकृष्टधनुषो
 हि तस्य शरमुमुक्षानन्तरप्रयत्नापेक्षात्माङ्गुलि-
 संयोगजमङ्गुलिकर्म, तस्माज्याङ्गुलिविभागः,
 ततः संयोगविनाशे धनुःस्थस्थितस्थापकलक्ष-
 णसंस्कारापेक्षात् धनुर्ज्यासंयोगात् ज्यायां कर्म
 उत्पद्यते, तेन स्वकारणापेक्षं ज्यायां वेगाख्यं
 संस्कारमादत्ते, तमपेक्षमाणः शरज्यासंयोगे
 नोदनं भवति तस्मादिषावाद्यं गत्यात्मकं कर्म
 तन्नोदनापेक्षमिषौ वेगाख्यमेव संस्कारमारभते
 यस्मादापतनादिषोरुत्तरोत्तरकर्मारम्भः । प्रेरकं
 मन्यते इति स्वयम् । एतदेवात्रोपचारबीजं, प्रेर-
 कम्मन्यत्वादेव हि असावुपचाराल्लोकेन प्रेरक
 उच्यते । वस्तुतो हि प्रेर्यप्रेरकयोः परस्परापेक्षं
 रूपं तत् । यत्र प्रेर्यस्य जडत्वात्पारतन्त्रानुसंधा-
 नात्मकं प्रेर्यत्वमेव नास्ति, तत्रानुसंधिभा-
 जोऽपि प्रेरकस्य तदपेक्षं मुख्यं प्रेरकत्वं कथं
 स्यात्, अतः प्रेरकम्मन्यत्वात्तस्य प्रेरकत्वमु-
 पचाराल्लोके व्यवहरेदित्युक्तम् 'उपचारेण

जायते' इति । कारीषोऽध्यापयतीत्यादौ प्रेर-
कस्य जाड्यान्मुख्यप्रेर्यत्वासंभवेऽपि प्रेर्यम्मन्य-
तानिमित्तादुपचारादध्येतुः प्रेर्यताव्यवहारः ।
परिकल्पितावित्युपचरिताविति यावत् । तत्र च
बीजं वायुप्रभवमवयवविभागजनकं कर्म ॥४३॥

एतदेवोपसंहरति

इत्थं जडेन संबन्धे

न मुख्या प्यर्थसंगतिः ।

आस्तामन्यत्र वितत-

मेतद्विस्तरतो मया ॥ ४४ ॥

संबन्ध इति अजडस्य जडान्तरस्य वा ।
एवमपि तत्समर्थाचरणलक्षणे प्यर्थे किं
प्रवृत्तक्रियविषयत्वमाहोस्विदप्रवृत्तक्रियविषय-
त्वमित्यादि बहु वक्तव्यमिति नेह वितानित-
मित्याह आस्तामित्यादि । अन्यत्रेति प्रकीर्ण-
कविवरणादौ ॥ ४४ ॥

एतदेव प्रकृते योजयति

अर्थे प्रकाशना सेय-

मुपचारस्ततो भवेत् ।

‘ततः’ इति, समनन्तरोक्ताज्जडेनाजडस्य जडान्तरस्य वा संबन्धे ण्यर्थस्य मुख्यत्वाभावात् हेतोः । ‘उपचारः’ इति यथा जाड्यादद्रेर्वायोश्च पात्यपातयितृत्वे प्रयोज्यप्रयोजकभावो न मुख्यः, तथा ज्ञानमर्थं प्रकाशयतीत्यत्र ज्ञानार्थयोः प्रकाश्यप्रकाशकभावेऽपीति । नैयायिकानां हि ज्ञानमपि अचेतनमेवापद्यते ज्ञेयत्वादर्थवत्, तद्योगात् पुनरात्मा चेतनः । यदाहुः

‘स चेतनश्चिता योगात्..... ।’

इति । एतच्चादूर एव व्यक्तीभविष्यति— इति नेहायस्तम् । एतदभ्युपगमे च यथा प्रयोज्यस्याद्रेः स्वव्यापारः पतनं तात्त्विकसिद्धमेवमिह प्रयोज्यस्यार्थस्य प्रकाशनमभ्युपगन्तव्यम् ।

तदाह

अस्तु चेद्भासते तर्हि

स एव पतदद्रिवत् ॥ ४५ ॥

एतच्चाभ्युपगम्य सोपचारमुक्तं, वस्तुतस्तु
सोऽपीह न संभवति निमित्ताभावात्, नहि
निर्निमित्तमुपचरणं न्याय्यमित्याह

उपचारे निमित्तेन

केनापि किल भूयते ।

केनापीति यत्र यथा विवक्षितेन ॥

एतदेव दर्शयति

वायुः पातयतीत्यत्र

निमित्तं तत्कृता क्रिया ॥ ४६ ॥

गिरौ येनैष संयोग-

नाशाद्भ्रंशं प्रपद्यते ।

इह तु ज्ञानमर्थस्य

न किञ्चित्करमेव तत् ॥ ४७ ॥

उपचारः कथं नाम

भवेत्सोऽपि ह्यवस्तुसन् ।

तत्कृतेति वेगवद्द्रव्यात्मवायुसंयोगजनिते-
त्यर्थः । क्रियेति अवयवविभागजनकं कर्मेति
यावत् । संयोगाद्धि कर्म, तस्मादवयवविभा-
गस्ततः संयोगनाशस्ततः पतनम्, अतश्चात्र
सनिमित्तकत्वात्पतनस्य तात्त्विकत्वम् । इह
पुनः

‘अर्थातिशयपक्षे च सर्वसर्वज्ञता भवेत् ।’

इत्याद्युक्तयुक्त्या ज्ञानेनार्थस्य न किञ्चित्क्रि-
यते, इति निमित्ताभावादुपचारः कथंकारं न
तिष्ठेत्तज्ज्ञानोदयेऽपि कथमर्थः प्रकाशते, इति
स्यात् । यद्वा निर्निमित्तमप्युपचारोऽस्तु किम-
नेन सेत्स्यतीत्याह ‘भवेत्सोऽपि ह्यवस्तुसन्’
इति । नहि उपचारे विषयस्य विषयिणा
ताद्रूप्यं वस्तुतो घटते येनाप्रकाशोऽप्यर्थः
प्रकाशत्वोपचारात् तथाभावमियात्, नह्यग्यु-
पचारान्माणवकोऽग्निरेव भवेत् येन दाहादि-
लक्षणां तदर्थक्रियामपि कुर्यात् ॥

तदाह

अप्रकाशित एवार्थः

प्रकाशत्वोपचारतः ॥ ४८ ॥

तादृगेव शिशुः किं हि

दहत्यभ्युपचारतः ।

अप्रकाशित इत्यसंजातप्रकाशताख्यधर्मक
इति यावत् । तादृगित्यप्रच्युतप्राच्यरूपोऽप्र-
काशित एवेत्यर्थः ॥

ननूपचारः सर्वात्मना चेदवस्तुसंस्तत्कथं
माणवकोऽग्निरित्यादिस्तद्यवहारः सर्वत्रैवावि-
गानेन प्रसिद्धः, अथ तत्रोपचर्यमाणसहचारि-
तैक्षण्यादिगुणसदृशगुणयोगो नाम वास्तवमस्ति
निमित्तं यद्वशादेवमादिरूपचारः समुल्लसेदिति
चेत्, नैतत् एवमपि ह्यत्र किं वास्तवं निमित्तं
येनार्थस्य प्रकाशत्वमुपचरेम, तस्मादपारमा-
र्थिक एवात्रोपचार इत्याह

शिशौ वह्युपचारे य-

द्वीजं तैक्षण्यादि तच्च सत् ॥४९॥

प्रकाशत्वोपचारे तु

किं बीजं यत्र सत्यता ।

सदिति, वह्निगततैक्षण्यादिसदृशस्य तै-
क्षण्यादेः शिशौ वास्तवत्वात् । किं बीजमिति,
न किञ्चिदित्यर्थः ॥

ननु किमनया सदसन्निमित्तादिपर्येषणया
यावता हि जानान एव विषयविषयिणोर्वि-
विक्तं स्वरूपं प्रयोजनपरतया चेतनः पुरुष
एवैवं व्यवहरति माणवकोऽग्निरिति, तथैव
तत्तद्व्यवहरणयोग्यताख्यं प्रयोजनमुद्दिश्याप्रका-
शरूपेऽप्यर्थे प्रकाशोऽयमर्थ इति व्यवहरेदि-
त्याशङ्क्याह

सिद्धे हि चेतने युक्त

उपचारः स हि स्फुटम् ॥ ५० ॥

अध्यारोपात्मकः सोऽपि

प्रतिसंधानजीवितः ।

न चाद्यापि किमप्यस्ति

चेतनं ज्ञानमप्यदः ॥ ५१ ॥

अप्रकाशं तदन्येन

तत्प्रकाशेऽप्ययं विधिः ।

सोऽपीत्यध्यारोपः । भवन्मते च प्रतिसं-
धाता कश्चिन्नास्ति स हि चेतनो वा स्यात्
आत्मा, चैतन्यं वा ज्ञानं, न तावदद्यापि
चेतन आत्मा सिद्धस्तस्य स्वतोऽचेतनस्य ज्ञान-
योगे तथात्वोपगमात्, ज्ञानयोगश्च समवायेन
यथात्मनस्तथा जन्यतयार्थेन्द्रियादेरेकार्थस-
मवायेन च सुखादेरपि संभवतीत्यर्थादयश्चे-
तनाः स्युः । न चात्र नियमनिमित्तमुत्पश्या-
मो येन समवायाच्चेतनत्वं नैकार्थसमवाया-
देरिति । यत्पुनः संबन्धाविशेषेऽपि वस्तुस्वभा-
वकृत एवायं विशेषः,—इत्युच्यते तत्पलायन-
प्रकारासूत्रणम् । तदाह 'नञ्चाद्यापि किमप्यस्ति
चेतनम्' इति । नापि चैतन्यरूपे ज्ञान एव
चेतन इति व्यवहारस्तस्य धर्मरूपत्वेन धर्मि-
व्यपदेशायोगात्, तदपि च ज्ञानं यदि स्वयं-
प्रकाशरूपं भवेत् तदैतद्युज्येत, न चैवमित्याह
ज्ञानमप्येतदप्रकाशमिति । अप्रकाशमिति,

विषयप्रतिभासकाले तदप्रतिभासाभ्युपगमात् ।
 नन्वप्रतिभासमानमपि ज्ञानं न शावराणामि-
 वास्माकं परोक्षं नित्यानुमेयमपितु विषयग्र-
 हणानन्तरमात्ममनःसंयोगजेन ज्ञानान्तरेण
 ज्ञायत एवेति कथमस्याप्रकाशरूपत्वं येन चे-
 तनव्यपदेशो न स्यात्, तदाह 'तदन्येन
 तत्प्रकाशेऽप्ययं विधिः' इति । अयं विधिरि-
 त्यर्थप्रकाशीयप्रकार इत्यर्थः । यथा ह्यर्थस्या-
 न्येन ज्ञानेन प्रकाशत्वे प्रयोज्यप्रयोजकभावः
 प्रसक्तः स च न मुख्यो गौणो वा कथंचन
 व्यवतिष्ठते, इत्यर्थस्य प्रकाशनमेवासिद्धम्, एवं
 ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वेऽपि मुख्यण्यर्थसंगत्य-
 भावात् प्रकाशनमेव न सिद्ध्येत् न चाप्रकाशा-
 त्मनो जडस्य प्रतिसंधातृत्वं युज्यते प्रतिसंधा-
 नाभावे तज्जीविताध्यारोपानुपपत्तावुपचारः
 कथं-कारमत्र व्यवतिष्ठेतेत्यलं बहुना ॥

ननु परप्रकाश[श्य]त्वेऽपि दीपो यथार्थस्य
 प्रकाशस्तथा ज्ञानमपि भवेत् तत्कथमेवमुक्तं

यज्ज्ञानान्तरज्ञेयत्वाद्प्रकाशरूपं ज्ञानं नार्थं
प्रकाशयेदित्याह

ननु प्रदीपो रूपस्य

प्रकाशः कथमीदृशम् ॥ ५२ ॥

नन्वत्रापि प्रागुक्तं समयमेव दूषणजातमु-
पनिपतेदित्याह

अत्रापि न वहन्त्येताः

किं नु युक्तिविकल्पनाः ।

‘एता युक्तिविकल्पना’ इति समनन्त-
रोक्ता मुख्यामुख्यण्यर्थमूला उपपत्तिप्रकारा
इत्यर्थः ॥

अत्र न केवलमेवं युक्तिपराहतत्वं यावद्वैष-
म्यमपीत्याह

यादृशा स्वेन रूपेण

दीपो रूपं प्रकाशयेत् ॥ ५३ ॥

तादृशा स्वयमप्येष

भाति ज्ञानं तु नो तथा ।

नो तथेति स्वयमप्रकाशरूपत्वात् अत एव
 तुशब्दो व्यतिरेके, तेनार्थप्रकाशनावसरे दी-
 पस्य स्वयमपि प्रकाशो नतु ज्ञानस्येति, अतश्च
 'तदसिद्धं यदसिद्धेन साध्यते' इति न्यायेन
 स्वयमप्रकाशमानं ज्ञानं कथं परं प्रकाशयेदि-
 त्याशयः ॥

वैषम्यमेव प्रकारान्तरेणापि द्रढयति

प्रदीपश्चैष भावानां

प्रकाशत्वं ददा[धा]त्यलम् ५४

अन्यथा न प्रकाशेर-

न्नभेदे चेदृशो विधिः ।

'प्रकाशत्वं ददाति' इति स्वप्रभाच्छुरणया
 भास्वरतामाद[ध]त्त इत्यर्थः । येन नीलेऽपि
 पटे रक्तपटभ्रमः, - इति प्रवादुकानां प्रवादः ।
 एवं भास्वरताधानमन्तरेण चार्थानां प्रकाश
 एव न स्यादित्युक्तम् 'अन्यथा न प्रकाशेरन्'
 इति । अत एव मन्दप्राये प्रदीपे न किञ्चि-
 दपि प्रकाशेतेत्युक्तम् अलमिति प्रकाशेन

पर्याप्तः समर्थ इति यावत् । ज्ञानं पुनरर्थस्य
 न कंचिदप्यतिशयमाधत्ते इत्युक्तं बहुशः ।
 यदि च किंचित्करमपि ज्ञानमर्थस्य प्रदीप इव
 प्रकाशत्वं दध्यात्तेन तस्याभेदो वाच्यः, दीपो
 हि स्वप्रभाच्छुरणात्मनावान्तरव्यापारेणार्थे प्र-
 काशत्वं दधाति, ज्ञानस्य तु न कश्चिदवान्तर-
 रव्यापारोऽत्र संभवति । अथ च प्रकाशयत्य-
 र्थमिति नैतदभेदमन्तरेण कथंचिद्धटते इत्यु-
 क्तम् 'अभेदे चेदृशो विधिः' इति । ईदृशो
 विधिरिति प्रदीपन्यायेनार्थे प्रकाशत्वप्रधा[दा]
 नसामर्थ्यप्रकार इत्यर्थः । अतश्च प्रकाश एव
 स्वशक्तिविस्फारसारतत्तदर्थवपुषा परिस्फुर-
 तीति सिद्धम् ॥

तदाह

तस्मात्प्रकाश एवायं

पूर्वोक्तः परमः शिवः ॥ ५५ ॥

यथा यथा प्रकाशेत

तत्तद्भाववपुः स्फुटम् ।

‘पूर्वोक्त’ इति प्रथमाह्निकादौ । यदुक्तम्

‘ज्ञेयस्य च परं तत्त्वं यः प्रकाशात्मकः शिवः ।’

(तं०१।५२)

इत्याद्यनन्तप्रकारम् । यथायथेति येन येन
नीलाद्यात्मनेत्यर्थः । यदा च प्रागुक्तयुक्तया
प्रकाशार्थयोरभेद एव तदा नीलत्वमिव नी-
लस्य प्रकाशमानत्वमपि स्वरूपगत एव धर्मः—
इति युक्तमुक्तं—वेद्यता भावस्य निजं वपु-
रिति ॥

अत आह

एवं च नीलता नाम

यथा काचित्प्रकाशते ॥ ५६ ॥

तद्वच्चकास्ति वेद्यत्वं

तच्च भावांशपृष्ठगम् ।

नन्वभिन्नमिदमर्थप्रकाशात्मकमखण्डं स्वल-
क्षणं, तत्र वेद्यत्वं नाम धर्मः किमर्थांशे
निपतति आहोस्वित्प्रकाशांशे इत्याशङ्क्योक्तं
‘तच्च भावांशपृष्ठगम्’ इति ॥

अत एव शावरमतोदितस्य द्विविधस्यापि
प्रमाणबलस्यानेन संग्रहः क्रियमाणो नापसि-
द्धान्ततां पुष्पातीत्याह

फलं प्रकटतार्थस्य

संविद्धेति द्वयं ततः ॥ ५७ ॥

विपक्षतो रक्षितं च

संधानं चापि तन्मिथः ।

प्रकटतार्थगतेति कौमारिलाः । संवित्प्रमा-
तृगतेति प्राभाकराः । तत इति समनन्तरोक्ता-
दर्थप्रकाशयोरभेदलक्षणाद्धेतोः । विपक्षत इति,
प्रकटताया अर्थधर्मत्वे सर्वान्प्रत्येवार्थः प्रकटो
भवेदिति सर्वे सर्वज्ञा भवेयुः । संवित्तेश्च
प्रमातृधर्मत्वेऽर्थस्य न किञ्चिदित्यसौ परोक्ष
एव स्यादित्येवमादिरूपात् । रक्षितमिति । नहि
इदानीमर्थस्य प्रकटता सर्वाविशेषेण युज्यते
वक्तुं प्रमातुरेकत्वात् सर्वार्थस्यैवाभावात्, माया-
पदे च यद्यपि भिन्नाः प्रमातारस्तथापि प्रकाशमा-
नोऽर्थः प्रमातृगतत्वेन तत्तत्प्रमातृभेदेन सुखा-

दिवदेकैकशो नियत एव, संवित्तिश्च प्रमातृ-
धर्मोऽपि नार्थसंबन्धं जहाति प्रमातृसारत्वाद्-
र्थस्येति सर्वसर्वज्ञस्यार्थपारोक्ष्यस्य न कश्चिद्-
वकार्शः । तत एव च तयोः परस्परेणापि
संधानं, प्रकटतासंवित्तिपक्षयोरन्योन्यं नास्ति
कश्चिद्भेद इत्यर्थः । इत्थमियता नीलतादिव-
द्वेद्यत्वं भावधर्म एवेति निर्वाहितम् ॥

एतदेव दृष्टान्तदृशा दर्शयति

तथाहि निभृतश्चौर-

श्चैत्रवेद्यमिति^१ स्फुटम् ॥ ५८ ॥

बुद्ध्वा नादत्त एवाशु

परीप्साविवशोऽपि सन् ।

सेयं पश्यति मां नेत्र-

त्रिभागेनेति सादरम् ॥ ५९ ॥

स्वं देहममृतेनेव

सिक्तं पश्यति कामुकः ।

१ क० पु० विशेष इति पाठः । २ क० पु० इदमिति पाठः ।

यथा चाशु तारतम्याविचारेणैव तत्तदर्थ-
जिघृक्षापरोऽपि भवंश्चौरश्चैत्रेणैतद्विदितमिति
स्फुटं निश्चितं ज्ञात्वा परमोपादेयमपि भाव-
जातं नैवादत्ते, — इति तदुपादातुं हातुं वा न
समर्थः, — इति किंकर्तव्यतामूढतया दुःखित-
प्रायत्वान्निभृतश्चित्रलिखित इवास्ते इत्यर्थः ।
कामुकश्च 'सेयं मनोरथशतैरप्यप्राप्या प्रिय-
तमा सादरं नतु वेश्यावद्रञ्जनामात्रेण नेत्र-
त्रिभागेन नतु तटस्थवत्सृष्टेन नेत्रेण मां
पश्यति क्षणमपि मद्दर्शनान्न विरमति' इति
स्वं देहममृतेनेव सिक्तं पश्यति, स्वात्मनि परं
सुखातिशयमवबुद्ध्यत इत्यर्थः । तद्यद्यर्थवे-
दनं प्रमातुर्धर्मः स्यात्तत्कथं चौरश्चैत्रविदित-
त्वादर्थं नादद्यात्, कामुकश्च प्रियावलोकना-
दमृतासिक्तमिव स्वं देहं जानीयादिति युक्त-
मुक्तं वेद्यता भावधर्म इति । अर्थविनिवेशिनश्च

वेद्यत्वस्यार्थक्रियाभेदोपदर्शनार्थमुदाहरणद्व-
योपादानं यत्पूर्वत्र दुःखकारित्वमुत्तरत्र सुख-
कारित्वमिति ॥

ननु संविन्मयश्चेदर्थस्तर्हि तस्य वेद्यत्वमिति
संविदेवोक्ता भवेत्, नच संविदर्थस्य धर्म-
स्तत्किमिदं वेद्यत्वं भावधर्म इति,—इत्याशङ्क्याह

न चैतज्ज्ञानसंवित्ति-

मात्रं भावांशपृष्ठगम् ॥ ६० ॥

अर्थक्रियाकरं तच्चे-

न्न धर्मः कोन्वसौ भवेत् ।

नचेदं वेद्यत्वं ज्ञानात्मकं संविन्मात्रमेव
यतो भावांशपृष्ठगमिति । अत एव तत्संविन्मा-
त्रातिरिक्तत्वेनार्थाद्भावांशधर्मस्तथात्वे चास्य
किं निबन्धनमित्युक्तमर्थक्रियाकरमिति । सा
चार्थक्रिया समनन्तरमेव दर्शिता । धर्मश्चेन्ने-
ष्यते तन्नीलादिरपि कश्चिद्धर्मः स्यादित्युक्तं
'न चेत्कोन्वसौ भवेत्' इति । मात्रग्रहणेन

च वेद्यत्वस्य ज्ञानसंवित्तेराधिक्यं ध्वनितम् ।
 अधिकश्च भावो वा स्यात् तद्धर्मो वा, न
 तावद्वेद्यत्वं भावस्तस्य हि वेद्यत्वं नतु वेद्यत्व-
 मेव सः, अतश्च तद्धर्म एवेति युक्तमुक्तं
 'वेद्यत्वं भावधर्म' इति ॥

नन्वत्रोक्त एव दोषो यद्वेद्यताधर्मा भावः
 सर्वान्प्रति स्यादिति । नैवमेतदित्याह

यच्चोक्तं वेद्यताधर्मा

भावः सर्वानपि प्रति ॥ ६१ ॥

स्यादित्येतत्स्वपक्षघ्नं

दुष्प्रयोगास्त्रवत्तव ।

भवत एवायं व्यामोहो यदयुध्यमानं वा-
 सुदेवं प्रति प्रेरणात्मकाद्दुष्प्रयोगात् यथा वा-
 रुणी गदा प्रयोक्तारमेव श्रुतायुधं जघान तथा
 मत्पक्षं प्रति प्रयुक्तं दूषणं म[त्त्व]त्पक्षमेव
 हन्यात्, तथा च ज्ञानेनानतिशयितोऽपि अर्थ-
 स्त्वन्मते यदि वेद्यतामासादयेत् तदतिशयि-
 तत्वाविशेषात्सर्वान्प्रत्येवासौ वेद्यः स्यादिति ॥

अस्मत्पक्षे पुनः परप्रकाशात्मा स्वतन्त्रः शिव
एवास्तीति तदपेक्षया नान्यः कश्चिदिति सर्वा-
र्थस्यैवाभावात् कं प्रति चकास्यादित्याह

अस्माकं तु स्वप्रकाश-

शिवतामात्रवादिनाम् ॥ ६२ ॥

अन्यं प्रति चकास्तीति

वच एव न विद्यते ।

मायापदे तु प्रमातृभेदेऽपि तत्तन्मातृमय-
त्वादर्थः सुखादिवत्प्रत्येकं नियत एवेत्युक्तं
प्राक् ॥

न केवलमेकप्रमातृसतत्त्ववस्तुवादेनैवं यु-
ज्यते यावत्प्रमातृप्रमेययोस्तत्त्वतो भेदेऽपी-
त्याह

सर्वान्प्रति च तन्नीलं

स घटश्चेति यद्वचः ॥ ६३ ॥

तदप्यविदितप्रायं

गृहीतं मुग्धबुद्धिभिः ।

अविदितप्रायमिति, किमिह वयं वेद्य-
तायाः सर्वाविशेषं प्रसञ्जयितुं नीलतां निदर्श-
यामः किमु तामेव वेद्यतामित्यविविच्यैवोपग-
तमित्यर्थः ॥

एतदेव सयुक्तिकं दर्शयति

R663x3,1

15 F24

नहि कालाग्निरुद्रीय-

कायावगतनीलिमा ॥ ६४ ॥

तव नीलः किं नु पीतो

मैवं भून्नतु नीलकः ।

न कंचित्प्रति नीलोऽसौ

11354

नीलो वा यं प्रति स्थितः

तं प्रत्येव स वेद्यः स्या-

त्संकल्पद्वारकोऽन्ततः ।



कालाग्निरुद्रस्य देहे संविदितो यो नीलि-
माख्यो गुणः स न चैत्रस्य भवितुमर्हति, न
हि धर्म्यन्तरगतेन धर्मेण धर्म्यन्तरं तद्वत्तया
सुवचम् । अत्यन्तमसंभवनीयतां परधर्मस्य

परत्र दर्शयितुं कालाग्निरुद्रीयकायेत्युक्तम् ।
 ननु यद्यन्यगतो नीलिमा नान्यं प्रति स्यात्
 किमसौ तं प्रति पीतो भवेदित्याशङ्कते 'किं नु
 पीतः' इति । परिहरति 'मैवं भून्नतु नीलक'
 इति । नहि पीतो नेति नीलो भवितुमर्हति, न हि
 घटलौहित्यमेवं पटस्य मालिन्यमित्येवं (लौहि-
 त्यमिति) युज्यते, ततश्च यथा नीलं सर्वान्
 प्रति, -इति निदर्शनस्य कोऽभिप्रायः, -इति
 न जानीमः । यदि तु वेद्यतया नीलं सर्वावि-
 शिष्टमिति निदर्शनार्थस्तदिदं दार्ष्टान्तिकमेव
 दृष्टान्तीकृतं स्वमतविरुद्धं चाभिहितं येनोक्तं
 मुग्धबुद्धिभिरिति । इह पुनरस्मन्मते परप्रमा-
 त्रपेक्षया पृथक् प्रमातृप्रमेययोरवभास एव
 नास्तीति किं कस्य चकास्यादित्याह 'न कंचि-
 त्प्रति नीलोऽसौ' इति । अपरप्रमात्रपेक्षया तु
 स्फुटेऽपि प्रमातृप्रमेयविभागे प्रमातृमयत्वादर्थ-
 स्य पूर्वोक्तयुक्त्या यं प्रति नीलं नीलं तं प्रति
 वेद्यमेव स्यादित्याह 'नीलो वा' इत्यादि । एव-

कारो भिन्नक्रमः । ननु नीलं वेद्यमेवेति नियमनिमित्तं न किञ्चिदुत्पश्यामो देशकालादिभेदेन पारोक्ष्यस्यापि संभवादित्याशङ्क्याह 'संकल्पद्वारकोऽन्ततः' इति । यस्तु संकल्पादिना वेद्यो न भवति नासौ तं प्रति नीलोऽपि स्यात्, नहि नीलतया वेदनं मुक्त्वा नीलो नाम कश्चित् प्रकाशमानतैव सत्तेत्युक्तत्वात् ॥

भवन्मते परापेक्षस्य धर्मस्य परत्वाविशेषेऽपि परत्र यथा नियमो दृष्टस्तद्ब्रदिह किं नेष्यते,—इत्याह

यथा चार्थप्रकाशात्म

ज्ञानं संगीर्यते त्वया ॥ ६६ ॥

तथा तज्ज्ञातृवेद्यत्वं

भावीयं रूपमुच्यताम् ।

भवता हि सामान्येनार्थप्रकाशात्मकत्वं ज्ञानस्य रूपमुक्तं तत्सर्वार्थप्रकाशत्वाविशेषेऽपि युगपत्तथा सामसामनन्त्यायोगात् इदं नीलज्ञान-

मिदं पीतज्ञानमिति नियतार्थप्रकाशात्मकमेव
 ज्ञानमभ्युपेयते, एवमस्मत्पक्षेऽपि वेद्यताख्यो
 भावीयो धर्मः प्रतिनियतप्रमातृसंबन्धी वाभि-
 धीयतां, कोऽयमस्थानेऽभिनिवेशो यदेकस्य
 प्रमातुर्वेद्यः परस्यापि तथा स्यादिति । अथ
 तत्र जनकत्वादि निबन्धनान्तरमाश्रीयते,
 तदिहापि समानं, भवति हि मायापदे प्रमा-
 तृजन्यं वेद्यत्वमित्यभिमानः । अत एव नैया-
 यिकप्रक्रियैव मायापदे व्यवहारनिबन्धनमिति
 चिरन्तनाना माम्नायः ॥

न चास्य पर्यनुयोगस्यावकाशलेशमपि प-
 श्यामः,—इत्याह

न च ज्ञातात्र नियतः

कश्चिज्ज्ञाने यथां तव ॥ ६७ ॥

अर्थे ज्ञाता यदां यो य-

स्तद्वेद्यं वपुरुच्यताम् ।

नहि यथा भवतो ज्ञानाद्व्यतिरिक्तः स्वत-
 न्त्र एवार्थः संभवति तथेहार्थप्रकाशव्यतिरिक्तो

ज्ञाता नाम येनैकस्य प्रमातुः प्रकाशमानोऽर्थः
 प्रमात्रन्तरस्यापि तथा किं न स्यादिति चो-
 द्येत, अस्मद्दर्शने हि परस्परानुरूपग्राह्यग्राह-
 कयुगलनिर्माणभङ्गा यो यदथावभाससंभि-
 न्नसंविदात्मकः स तस्य प्रमाता, यस्तु न
 तथा स न तस्य प्रमातैव भवेदिति तं प्रति
 कथंकारं प्रकाशतामिति सिद्धं नियतप्रमातृ-
 वेद्यत्वम् ॥

तदेतदस्माभिः पुनः पुनरुच्यमानं श्रुत्वा-
 प्यनवधारयन्नवहास्यतामेव यास्यतीत्याह

तत्तद्विज्ञातृवेद्यत्वं

सर्वान्प्रत्येवं भासताम् ॥ ६८ ॥

इत्येवं चोदयन्मन्ये

ब्रजेद्वधिरधुर्यताम् ।

नहन्यं प्रति वै कंचि-

द्भाति सा वेद्यता तथा ॥ ६९ ॥

बधिरधुर्यतामिति, बधिरो हि न शृणो-
 ल्येव, अयं पुनः शृण्वन्नपि न शृणोतीति
 तमप्यतिशेते, — इत्येवमुक्तम् । यतस्तदर्थावभा-
 ससंभिन्नसंविद्रूपमन्यं कंचित्प्रति तथैकात्म्येन
 सा वेद्यता नैव भाति तं प्रति भावो वेद्यता-
 मेव न यायादित्यर्थः ॥

‘अतश्च वेद्यता नाम भावस्यैव निजं वपुः’
 इत्युक्ते किमिति निष्कारणमियत्कुप्यते,—इत्याह

भावस्य रूपमित्युक्ते

केयमस्थानवैधुरी ।

ननु भावधर्मवेद्यतापक्षे नीलतादेरिव वेद्य-
 या अपि स्वव्यतिरिक्तस्वरूपावेशिवेद्यतायो-
 ।दनवस्थापतेदित्युक्तं तत्कथं परिहर्तव्यमि-
 त्हाह

अनेन नीतिमार्गेण

निर्मूलमपसारिता ॥ ७० ॥

अनवस्था

अनेन नीतिमार्गेणेति यथैकप्रमातृवेद्यताया
न प्रमात्रन्तरसंबन्धो युक्तस्तथैव समानन्या-
यत्वाद्देद्यतान्तरसंबन्धोऽपीत्यर्थः ॥ ७० ॥

एतदेवोपपादयति

तथा ह्यन्यै-

नीलाद्यैः सदृशी न सा ।

वेद्यता किंतु धर्मोऽसौ

यद्योगात्सर्वधर्मवान् ॥ ७१ ॥

धर्मी वेद्यत्वमभ्येति

स सत्तासमवायवत् ।

ननु भवन्मते वेद्यता नाम किं धर्ममात्र-
मुत ज्ञानरूपतया गुणपदार्थान्तरतेति । तत्र
धर्ममात्रत्वे न भवेदेवास्या वेद्यताख्यधर्मान्त-
रयोगः, ज्ञानगुणरूपत्वे च 'निर्गुणा गुणाः' इति
नीत्या कथमस्या वेद्यतान्तरं सजातीयो धर्मः
स्यात् । तद्यथा वैजात्येन नीलताया वेद्यताख्यो
धर्मो भवेत् नैवं तस्या वेद्यतान्तरमित्यस्या

नीलादिधर्मान्तरवैलक्षण्यम् अपितु असौ
वेद्यताधर्मः समवायवृत्त्या स्वाश्रयस्य वेद्यव्य-
वहारहेतुर्यं विना सकलधर्मकल्माषितवपुषोऽपि
तस्य धर्मिणः स्वयं वेद्यावेद्यत्वविरहिणो वेद्य-
मिति व्यपदेशोऽपि दुर्घटः स्यात् । ननु वेद्य-
ताख्यो धर्मोऽपि स्वयमवेद्यश्चेद्सिद्ध एवासा-
विति कथमिव स्वसंबन्धेन धर्मिणं व्यवहार-
येदित्याशङ्कं परिहरिष्यन् दृष्टान्तयति 'सं
सत्तासमवायवत्' इति । अनेन गुणकर्मवि-
शेषा अप्युपलक्षिताः ॥ ७२ ॥

एतदेव व्यनक्ति

ब्रूषे यथा हि कुरुते

सत्ता सत्यंसतः सतः ॥ ७२ ॥

समवायोऽपि संश्लिष्टः

श्लिष्टानश्लिष्टताजुषः ।

अन्त्यो विशेषो व्यावृत्ति-

रूपो व्यावृत्तिवर्जितान् ॥७३॥

व्यावृत्तान् श्वेतिमा शुक्ल-
मशुक्लं गमनं तथा ।

तद्वन्नीलादिधर्मांश-
युक्तो धर्मी स्वयं स्थितः ॥७४॥
अवेद्यो वेद्यतारूपा-
द्धर्माद्वेद्यत्वमागतः ।

‘कुरुते’ इति प्रतिवाक्यार्थमनुषज्यते । स-
तीति स्वरूपेण । ‘संश्लिष्ट’ इति स्वयं वृत्तिरूप
इत्यर्थः । ‘अन्त्यः’ इति अन्तेषूपत्पादविनाशयो-
रन्तेऽवस्थितत्वाद्दन्तशब्दवाच्येषु नित्यद्रव्येषु
भवः स्थित इतियावत् । ‘विशेषः’ इति स्वाश्र-
यस्य सर्वतो विशेषकत्वाद्भेदक इत्यर्थः । श्वे-
तिमेति स्वयं श्वेतरूपोऽशुक्लं शुक्लं करोती-
त्यर्थः । तथेति अगन्तारं गन्तारं कुर्यादिति
तात्पर्यम् । वेद्यत्वमागतः सन् स्थित इति
योजनीयम् । किलेदं भवदर्शनं—यदुत परसा-
मान्यरूपा द्विविधा सत्ता स्वरूपसत्ता समवा-
यिनी चेति । तत्र समवायिनी द्रव्यगुणकर्म-

स्वेव भवति, स्वरूपसत्ता तु सामान्यविशेषसमवायेषु । यदुक्तम्

‘त्रिपदार्थकरी सत्ता.....’

इति । तत्र यथैव द्रव्यादयस्त्रयः स्वरूपेण न सन्तो नासन्तः सत्तासमवायात्तु सन्तः, सत्ता तु स्वरूपेणैव सत्त्वात् न सत्यसती वेति पर्यनुयोगर्पात्रम् । अनेनापरमपि सामान्यमुपलक्षितम् । यतो गौः स्वरूपेण न गौर्नागौर्गोत्वाभिसंबन्धात्तु गौः, गोत्वं तु स्वत एव तथात्वात् न जात्यन्तरयोगमावहति । यथा च कार्यं वा कारणे सामान्यं वा विशेषे स्वयमवृत्तिरूपं समवायवृत्त्या वर्तते, समवायश्च स्वाश्रये वर्तमानः स्वयमेव वृत्तिरूपत्वान्न समवायादिवृत्त्यन्तरमपेक्षते । यथा च भावानामनुवृत्तिप्रत्ययहेतुसामान्ययोगद्वारकसंशयप्रतिपक्षतया गुणकर्मादयो धर्मा व्यावृत्तिबुद्धिहेतवो विशेषा इह, तेषामपि तथैव सामान्ययोगेन संशयबीजभूतत्वे प्रलये वा नित्यद्रव्येषु सजातीयविजातीयवैलक्षण्याधायि-

नोऽत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवो मादृशामन्यथा-
 नुपपत्त्या योगिनां तु प्रत्यक्षेण सिद्धा अन्त्या
 विशेषा उपगम्यन्ते । भावाश्च स्वरूपेण न
 व्यावृत्ता नाप्यव्यावृत्ता व्यावृत्तियोगात्तु व्या-
 वृत्ता इति भङ्ग्या विशेषैरेव व्यावृत्त्यन्ते, वि-
 शेषास्तु स्वयं व्यावृत्तिरूपत्वान्न व्यावृत्ता अ-
 व्यावृत्ता वेति विकल्पनीयाः । यथा च पटः
 स्वरूपान्न श्वेतो नाप्यश्वेतः श्वेतगुणसंबन्धात्तु
 श्वेतः, श्वेतगुणस्तु श्वेतरूपत्वादेव न स्वसम-
 भायिश्वेतान्तरमुपयाचते । यथा च गन्ता
 न स्वयं गन्ता नाप्यगन्ता गमनक्रियायोगात्तु
 गन्ता, गमनक्रिया तु गमनात्मकत्वादेव न
 स्वात्मनि गमनमन्यदर्थयते । एवं सकलधर्म-
 युक्तोऽपि भावः स्वयं न वेद्यो नावेद्यो वेद्यता-
 संबन्धात्तु वेद्यः, वेद्यता पुनः स्वात्मनैव वेद्य-
 त्वान्नावेद्या वेद्या वेत्यनुयोक्तुं युक्तेत्युपरम्यते
 । ७३ ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

ननु यथा [सत्ता]स्वरूपेण सती तथा वेद्य-
 तापि स्वरूपेणैव वेद्येत्युक्ते स्वरूपस्यैव वेद्यत्वं
 वेद्यकत्वं च द्वितयं प्राप्नुयात्, तच्च न युक्तं

विरोधादित्याशङ्क्य स्वयंवेद्यतां स्वप्रकाशताया-
मेव विश्रमयति

वेद्यता भासमाना च

स्वयं नीलादिधर्मवत् ॥ ७५ ॥

अप्रकाशा स्वप्रकाशा-

द्धर्मादेति प्रकाशताम् ।

वेद्यता च यदा स्वयमवभासते तदासौ
नीलादिवज्जडोचितेन रूपेणाप्रकाशमानापि
स्वप्रकाशताख्यात्स्वरूपादेव प्रकाशतामेति स्व-
यमेव प्रकाशते, नतु स्वापेक्षया कर्मभावं ल-
भत इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

अतश्च न वेद्यता वेद्या भवितुमर्हतीत्याह

प्रकाशे खलु विश्रान्तिं

विश्वं श्रयति चेत्ततः ॥ ७६ ॥

नान्या काचिदपेक्षास्य

कृतकृत्यस्य सर्वतः ।

वेद्यस्य हि जडतया पारतन्त्र्ये संविदि वि-
श्रान्तिर्नाम वेद्यता, विश्रान्तेस्तु किमन्यदपे-

क्षणीयं येन वेद्यतायामपि वेद्यता भवेदित्युक्तं
 'नान्या काचिदपेक्षा' इति 'कृतकृत्यस्य' इति
 च ॥ ७७ ॥

ननु यदि प्रकाशविश्रान्तिसतत्त्वैव वेद्यता
 तत्कथमस्या भावधर्मत्वमित्याशङ्क्याह

यथा च शिवनाथेन

स्वातन्त्र्याद्भास्यते भिदा ॥७७॥

नीलादिवत्तैथैवायं

वेद्यता धर्म उच्यते ।

धर्म इत्यर्थान्भावस्य ॥ ७८ ॥

ननु भवतु नाम वेद्यता नाम भावधर्मः
 का नो विचिकित्सा, इदं पुनः कथं यदनेकेषु
 प्रमातृषु तथानैक्यमिति, नहि प्रमातृभेदेऽपि
 नीलस्य स्वात्मनि कश्चिद्विशेषो येनैवं स्यादि-
 त्याशङ्क्याह

एवं सिद्धं हि वेद्यत्वं

भावधर्मोऽस्तु का घृणा ॥७८॥

इदं तु चिन्त्यं सकल-
पर्यन्तोक्तप्रमातृभिः ।

वेद्यत्वमेकरूपं स्या-

चातुर्दश्यमतः कुतः ॥ ७९ ॥

एतदेव प्रतिविधत्ते

उच्यते परिपूर्णं चे-

द्भावीयं रूपमुच्यते ।

तद्विभुर्भैरवो देवो

भगवानेव भण्यते ॥ ८० ॥

अथ तन्निजमाहात्म्य-

कल्पितोऽशांशिकाक्रमः ।

सह्यते किं कृतं तर्हि

प्रोक्तकल्पनयानया ॥ ८१ ॥

एवंविधं हि भावानां रूपं पूर्णमपूर्णं च,
तत्र पूर्णरूपत्वे स्वप्रकाशः पर एव प्रकाशस्त-
थोज्जृम्भते इति को नाम भावार्थः, अपूर्णं च
रूपं धर्मधर्म्यादिरूपतया पारमेश्वर्या स्वातन्त्र्य-
शक्त्यैव तथा कल्पितमिति भेदानुप्राणितः

समग्र एवायं व्यवहारः सोढव्य इति किम-
नया पाञ्चदश्यादिक्रमकल्पनयापराद्धं यदेव-
मस्याः प्रद्वेषः ॥ ८१ ॥

तदेवमेकमेव नीलं तत्तदंशांशिकाक्रमेणा-
वभासमानं तथा तथा भिद्यत एवेत्याह

अत एव यदा येन

वपुषा भाति यद्यथा ।

तदा तथा तत्तद्रूप-

मित्येषोपनिषत्परा ॥ ८२ ॥

येन वपुषेति उद्रिक्तानुद्रिक्तसकलादिशि-
वान्तप्रमातृवेद्येनेत्यर्थः । तद्रूपमिति सकल-
वेद्यं प्रलयाकलवेद्यमित्यादि ॥ ८२ ॥

ननु यदि तत्तत्सकलादिप्रमातृवेद्यता
प्रमातृभेदादेव कथंचन भेदमुपनीता तथा-
प्येकरूपैवासावर्थक्रियाया भेदेनाकरणात् तद्वे-
द्यमप्येकरूपमेवेति पुनरपि पाञ्चदश्यादिक्रम-
कल्पना कल्पनैवेत्याशङ्क्य वेद्यताभेदसमर्थ-
नार्थमर्थक्रियाभेदं प्रतिजानीते

चैत्रेण वेद्यं जानामि
 द्वाभ्यां बहुभिरप्यथ ।
 मन्त्रेण तन्महेशेन
 शिवेनोद्द्रिक्तशक्तिना ॥ ८३ ॥
 अन्यादृशेन वेत्येवं
 भावो भाति यथा तथा ।
 अर्थक्रियादिवैचित्र्य-
 मभ्येत्यपरिसंख्यया ॥ ८४ ॥

यथैव भावो भाति तथार्थक्रिया,
 अन्यादृशेनेति अनुद्द्रिक्तशक्तिना । इत्येव-
 मिति चैत्रेण ॥ ८४ ॥

तदेव दिङ्मात्रेणोपपादयन् व्यनक्ति
 तथा ह्येकाग्रसकल-
 सामाजिकजनः खलु ।
 नृत्तं गीतं सुधासार-
 सागरत्वेन मन्यते ॥ ८५ ॥

इह खलु प्रेक्षावतां^१ सामाजिकानां मध्या-
 देवैकः प्रमाता पदे.....तेन दाढ्यादेव
 मयेति[न्यते] नृत्तगीतादेर्बहुवेद्यताख्यमतिशयं
 मन्वानस्तत्स्वानुभवैकगोचराचरमचमत्कारसा-
 रतया परामृशेदित्यर्थः । एकैकप्रमातृवेद्याद्धि
 नृत्तादेरनेकप्रमातृवेद्यस्यास्यास्त्येव सर्वसंचे-
 त्योऽतिशयो येन तावत्यंशे प्रमात्रैक्यं स्यात्॥८५॥

तदाह—

तत एवोच्यते मल्ल-

नटप्रेक्षोपदेशने ।

सर्वप्रमातृतादात्म्यं

पूर्णरूपानुभावकम् ॥ ८६ ॥

तत इति बहुमातृवेद्यत्वलक्षणाद्धेतोः ।
 उच्यते इति सर्वैः । यच्छ्रीप्रत्यभिज्ञायां

“तं तं घटादिमर्थमेकदेशव्यवस्थिताः प्रमातारः
 समं संवेद्यमानास्तावत्यंशे तदैक्यमुपयान्ति ।”

इति । पूर्णरूपेति इयदेव हि पूर्णं रूपं

यद्विगलितवेद्यान्तरतया तत्रैवानन्याकाङ्क्षत्वेन
परामर्शनं नामेति ॥ ८६ ॥

नन्वेकैकस्य पृथक् पृथक् नृत्तादिसंवित्ति-
रेवमवस्थितेति किमनेकप्रमातृवेद्यत्वेनेत्याह

तावन्मात्रार्थसंवित्ति-

तुष्टाः प्रत्येकशो यदि ।

कः संभूय गुणस्तेषां

प्रमात्रैक्यं भवेच्च किम् ॥ ८७ ॥

एवं हि सामाजिकानामनेकप्रमातृवेद्यता,
संमीलनयातः को गुणो न कश्चित्त्वानुभव-
साक्षिकस्यापि चमत्कारातिशयस्य निहव एव
कृतः स्यादित्यर्थः । ननु तावत्यंशे प्रमात्रैक्या-
देवैवं चमत्कारानुभवो भवेदित्याशङ्क्याह 'प्र-
मात्रैक्यं भवेच्च किम्' इति । एकस्मिन् हि
वस्तुन्यनेकवेद्यतावभास एव स्वात्मविश्रान्ति-
मयपरामर्शोपारोहक्रमेण विगलितभेदतया प्र-
मातृणामैक्योपगमे बीजं यत एवंविधानन्द-
सन्दोहपात्रतापि भवेत् ॥ ८७ ॥

अत एवाह

यदा तु तत्तद्वेद्यत्व-
धर्मसंदर्भगर्भितम् ।

तद्वस्तु शुष्कात्प्राग्रूपा-

दन्यद्युक्तमिदं तदा ॥ ८८ ॥

शुष्कात्प्राग्रूपादिति एकैकप्रमातृसंवेद्यान्नी-
रसप्रायादिति यावत् । अन्यदिति निरतिश-
यचमत्कारकारिरूपान्तराविष्टमित्यर्थः । अत्र
हेतुः—तत्तद्वेद्यत्वधर्मसंदर्भगर्भितमिति प्रमा-
त्रैक्यम् ॥ ८८ ॥

न केवलं लोके सकलप्रमात्रपेक्षया वेद्य-
त्वमेवं विचित्रार्थक्रियाकारि, यावच्छास्त्रेऽपि
प्रमात्रन्तरापेक्षयेत्याह

शास्त्रेऽपि तत्तद्वेद्यत्वं

विशिष्टार्थक्रियाकरम् ।

भूयसैव तथाच श्री-

मालिनीविजयोत्तरे ॥ ८९ ॥

तथा षड्विधमध्वान-

मनेनाधिष्ठितं स्मरेत् ।

अधिष्ठानं हि देवेन

यद्विश्वस्य प्रवेदनम् ॥ ९० ॥

तदीशवेद्यत्वेनेत्थं

ज्ञातं प्रकृतकार्यकृत् ।

भूयसैवेत्यविगानेन सर्वत्रैवेत्यर्थः । एतदे-
वोदाहरति तथाचेत्यादिना । एतच्च स्वयमेव
व्याख्याय प्रकृते योजयति अधिष्ठानमित्या-
दिना । नहि भेदवादिनामिवास्माकं भिन्नं
विश्वमस्ति येन तदुक्तवदधिष्ठात्रधिष्ठेयभावो
भवेदित्युक्तं देवेन विश्वस्याधिष्ठानं प्रवेदन-
मिति । संविन्मयो हि सः संविदश्च संवेद्य
एव विषय इत्याधार इत्यधिष्ठेय इति चोच्यते,
ततश्चेत्थमनेकवेद्यताप्रकारेण शिववेद्यत्वेन ज्ञातं
सत् षडध्वलक्षणं विश्वं प्रकृतं दीक्षाकर्मादि-
कार्यं करोत्येवंविधार्थक्रियाक्षममित्यर्थः । एवं
मन्त्रमहेश्वरादिवेद्यत्वेनापि नियततत्तत्त्वा-
वाप्तिः स्यादित्यपरिसंख्येयमन्त्रार्थक्रियावैचि-
त्र्यम् ॥ ९१ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

एवं सिद्धं वेद्यताख्यो

धर्मो भावस्य भासते ॥ ९१ ॥

तदनाभासयोगे तु

स्वरूपमिति भण्यते ।

तदनाभासयोगे इति तस्य वेद्यताख्यस्य धर्मस्थापरामर्शे सतीत्यर्थः । तेनाभासान्तरसं-
मूर्च्छनाविरहितो नीलमित्येव विमृश्यमानः
सामान्यात्मक एकक एवाभासः पञ्चदशं
स्वरूपमित्युक्तम् ॥ ९२ ॥

ननु नीलमित्यपि स्वरूपेण विमृश्यमान-
मन्तःकृतनिखिलधर्मात्मकमेव विमृष्टं स्यादिति
प्रमात्रन्तरवेद्यतोपरागो दुरपह्वव एवेत्याश-
ङ्क्याह

उपाधियोगिताशङ्का-

मपहस्तयतोऽस्फुटम् ॥ ९२ ॥

स्वात्मनो येन वपुषा

भात्यर्थस्तत्स्वकं वपुः ।

उपाधियोगिताशङ्कामित्याशङ्कितमाभासान्तरमित्यर्थः । अस्फुटमिति वस्तुनो हि देशकालाभाससंमूर्छनया स्वालक्षण्यापत्तौ स्फुटता भवेदिति भावः । स्वात्मन इति प्रमातुः, येन वपुषेति सामान्यात्मना, स्वकं वपुरिति स्वरूपम् । इह हि मायापदे विकल्पदशामधिशयानो विमर्शः समारोपितधर्मान्तरप्रतिक्षेपाय प्रवर्तमानः स्वालक्षण्यादविभिन्नमपि आभासान्तरं व्यवच्छिन्दन् सामान्यात्मकं नीलमात्रमेव विमृशति नतु स्वरूपाविनाभाविनीं सत्तामपि स्पृशतीति कथं नीलमात्रपरामर्शदशायां वेद्यताख्यधर्मान्तरोपरागसंभावनापीति तात्पर्यार्थः ॥ ९३ ॥

ननु धर्मान्तरं व्यवच्छेत्स्यता विकल्पेन प्रमात्रन्तरवेद्यता व्यवच्छिद्यतां, नहि तामन्तरेण स्वरूपमेव न स्यात् तत्प्रमातृवेद्यता तु कथंकारं तिरोधीयेत, इत्याशङ्क्याह

जानामि घटमित्यत्र

वेद्यतानुपरागवान् ॥ ९३ ॥

घट एव स्वरूपेण
भात इत्यपदिश्यते ।

नन्वत्र जानामीति ज्ञानक्रियाकर्मतया स्व-
यंवेद्यता तावदस्ति, प्रमात्रन्तरवेद्यता चाव-
श्यंभाविनी अस्मदाद्यगोचरत्वेऽन्ततः क्रिमि-
सर्वज्ञादेरपि वेद्यो भवेदित्युक्तत्वात्; तत्कथ-
मुक्तं वेद्यतानुपरागवान् स्वरूपेण घटो भात
इति, तदाह

ननु तत्र स्वयंवेद्य-

भावो मन्त्राद्यपेक्षया ॥ ९४ ॥

अपि चास्त्येव

तदिदमनवधारितास्मदभिप्रायस्य चोद्यम् न
ह्यस्माभिर्घटः स्वरूपेण वेद्यतानुपरागवानि-
त्युक्तं, किंतु वेद्यतानुपरागवान् भात इति ॥

नच घटं जानामीत्यत्र स्ववेद्यतां सर्वज्ञा-
दिवेद्यतां च जानामीत्यनुसंधिरस्ति, जानामीति
चास्मदर्थविश्रान्तो ज्ञानपरामर्श एवायमित्याह

नन्वस्तु

नतु सन्प्रतिभासते ।

नच स्वरूपपरामर्शनान्तरीयकतया सर्व-
त्रैव स्वात्मवेद्यतापि स्यादित्याह

अवेद्यमेव कालाग्नि-

वपुर्मेरोः परा दिशः ॥ ९५ ॥

ममेति संविदि परं

शुद्धं वस्तु प्रकाशते ।

शुद्धमिति स्वपरवेद्यतासंभेदपरामर्शरहि-
तमित्यर्थः ॥ ९५ ॥

ननु शुद्धं वस्तु प्रकाशते चेत्सिद्धमस्य
वेद्यत्वम्, अवेद्यं च प्रकाशते चेति विप्रतिषेधः ।
सत्यं किंतु प्रकाशमानत्वाद्देद्यं नतु वेद्यत्वेन
प्रकाशमानमित्याह

भातत्वाद्देद्यमपि त-

न्न वेद्यत्वेन भासनात् ॥ ९६ ॥

अवेद्यमेव भानं हि

तथा कमनुयुञ्ज्महे ।

तदिति स्वरूपमात्ररूपं शुद्धं वस्तु । अवे-
द्यमिति वेद्यत्वाभासान्तरासंमूर्च्छितमित्यर्थः ।
अत्र हेतुः न वेद्यत्वेन भासनादिति । ननु

‘अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति ।’

इति भङ्ग्या वेद्यतायामनाभासमानायां कथ-
मिव स्वरूपेण वेद्यं भातं भवेदित्याशङ्क्याह
भानं हीत्यादि । भानं हि प्रकाशः, सच वि-
मर्शजीवित इत्युक्तम् । सच घटं जानामी-
त्यत्र घट इव वेद्यतायां न संभवति वेद्यमि-
त्यनवसायात् प्रत्युत कालाश्यादाववेद्यतापरा-
मर्शो दर्शितः, तत्कस्यायं पर्यनुयोगो वेद्ये
प्रकाशमाने कथं वेद्यताया अप्रकाशन-
मिति ॥ ९६ ॥

एवं च पाञ्चदश्यादिक्रमकल्पना वास्तव्ये-
वेत्याह

एवं पञ्चदशात्मेयं

धरा तद्वज्जलादयः ॥ ९७ ॥

अव्यक्तान्ता यतोऽस्त्येषां

सकलं प्रति वेद्यता ।

अनेन वस्तुधर्माख्यप्रमेयानन्तर्येणानुजो-
द्देशोद्दिष्टस्य तत्त्वविधेरप्यासूत्रणं कृतम् ॥९७॥

ननु

‘इत्यनेन कलाद्येन धरान्तेन समन्विताः ।

पुमांसः सकला ज्ञेया..... ॥’

मा०वि०१।३५

इत्युक्त्या कलान्तं सकलस्यावस्थानं तत्कथ-
मव्यक्तान्तमस्य प्रमातृत्वमुक्तमित्याशङ्क्याह

यत्तूच्यते कलाद्येन

धरान्तेन समन्विताः ॥ ९८ ॥

सकला इति तत्कोश-

षट्कोपलक्षणम् ।

नह्यनेन वाक्येन पुंसः कलान्तमवस्थान-
मुक्तं, तथात्वे हि ‘पुरुषः पञ्चविंशकः’ इत्यादि-
श्रुतिविरोधः स्यात्, किंतु उद्विक्तमस्य मा-
यादिकञ्चुकषट्कमिति । तद्धि प्रलयाकलस्यानु-
द्विकं, विज्ञानाकलस्य ध्वस्तमिति ॥ ९८ ॥

तदाह

उद्भूताशुद्धचिद्राग-

कलादिरसकञ्चुकाः ॥ ९९ ॥

सकलालयसंज्ञास्तु

न्यग्भूताखिलकञ्चुकाः ।

ज्ञानाकलास्तु ध्वस्तैत-

त्कञ्चुका इति निर्णयः ॥ १०० ॥

रसेति षट् ॥ १०० ॥

ननु देहादिवेद्यांशप्राधान्यान्मुख्यतया स-
कलः प्रमातैव न भवतीति कुतस्त्यं पाञ्चद-
श्यमित्याशङ्क्याह

तेन प्रधाने वेद्येऽपि

पुमानुद्भूतकञ्चुकः ।

प्रमातास्त्येव सकलः

पाञ्चदश्यमतः स्थितम् ॥ १०१ ॥

यद्यपि सकले देहाद्यात्मनो वेद्यस्यैव प्रा-
धान्यं तथापि ज्ञानकलो[क्रियो]त्तेजककला-
विद्यादिकञ्चुकोद्रेकादस्त्येव प्रमातृत्वमित्यन-
वद्यं पाञ्चदश्यम् ॥ १०१ ॥

ननु वेद्यांशप्राधान्याद्धरादिवत्पुंस्यपि पाञ्च-
दश्यमेव न्याय्यं तत्कथं 'आनराद्धेदयुग्धीनम्'
इत्याद्युक्तमित्याशङ्क्याह

पाञ्चदश्यं धराद्यन्त-

निर्विष्टे सकलेऽपि च ।

सकलान्तरमस्त्येव

प्रमेयेऽत्रापि मातृ हि ॥ १०२ ॥

धराद्यन्तर्निविष्टे इत्यनेनास्य वेद्यांशप्राधान्यमेवोपोद्बलितम् । अत एवोक्तं प्रमेय इति । प्रमात्रेकरूपत्वे हि कथमेवं संगच्छतामित्याशयः । सकलान्तरमिति, यदा त्वत्र प्रलयाकलः प्रमाता तदा त्रायोदश्यमेवेति सर्वं स्वस्थम् ॥ १०२ ॥

ननु किमनेनैवमुपदिष्टेन पाञ्चदश्येनेत्याशङ्क्याह

स्थूलावृतादिसंकोच-

तदन्यव्याप्तृताजुषः ।

पीताद्याः स्थिरकम्प्रत्वा-

च्चतुर्दश धरादिषु ॥ १०३ ॥

स्वरूपीभूतजडताः

प्राणदेहपथे ततः ।

प्रमातृताजुषः प्रोक्ता

धारणा विजयोत्तरे ॥ १०४ ॥

एतदेव ह्यधिकृत्य श्रीमालिनीविजयोत्तरे

धरादिष्वव्यक्तान्तेषु चतुर्विंशतौ तत्त्वेषु प्रति-
 तत्त्वं जडात्मकस्वरूपधारणया सह चतुर्दश
 धारणाः प्रोक्ता इति संबन्धः । तत्र सक-
 लस्य स्थूलमाणवादि मलत्रयं, प्रलयाकलस्या-
 वरणमावृतमिति व्युत्पत्त्यावृतं मलद्वयं, वि-
 ज्ञानाकलस्यादि प्राथमिकमाणवं मलं, म-
 न्त्राणां प्रलयाकलोपादानत्वादावृततया सं-
 कोचः, मन्त्रेश्वराणां सकलोपादानत्वात् स्थू-
 लात्मा तच्छब्दनिर्दिष्टः संकोचः, मन्त्रमहेश्व-
 राणामन्यः संकोचस्य यथायथं विगलनाद्
 विकासः । शिवस्य व्यातृता देशकालाद्यवच्छे-
 दशून्यत्वात् व्यापकत्वं, ता जुषन्ते सेवन्ते
 तदालम्बना इत्यर्थः । नन्वेवं सप्त धारणा
 भवेयुः न चतुर्दश इत्याशङ्क्योक्तं स्थिरकम्प्र-
 त्वादिति । स्थिरं स्वात्मविश्रान्त्या निर्व्यापारं
 शक्तिमद्रूपं, कम्प्रं स्पन्दात्मकं सव्यापारं शक्ति-
 रूपम् । अत एवात्र सकलतच्छक्त्यधिकारेण

‘तद्देव सरेद्देहं किं तु व्यापारवर्जितम् । (मा० वि० १२।२९)

इति

‘सव्यापारं सरेद्देहं.....॥’ (मा० वि० १२।२६)

इति चोक्तम् । ताश्च यथायथं भेदविगल-
नात् देहप्राणबुद्ध्यादिप्रमातृदशाधिशायिन्यः,
इत्युक्तं 'प्राणदेहपथे' इति प्रमातृताजुषश्चेति
तत्र स्वरूपसकलशक्तिमच्छक्तिधारणाधिकारे-
णोक्ताः । यदुक्तं तत्र

'स्वदेहं हेमसंकाशं तुर्याश्रं वज्रलाञ्छितम्' ।

(मा० वि० १२ । २२)

इत्यादि । प्राणादौ तु प्रलयाकलविज्ञानाकला-
दिधारणाः । यदुक्तम्

'चतुर्थे हृदतं ध्यायेद्वादशाङ्गुलमायतम्' ।

(मा० वि० १२।३०)

इत्यादि । 'पीताद्या' इत्याद्यशब्दाज्जलतत्त्वादौ
शुक्लादीनां ग्रहणम् । एतच्च सर्वं

'यः पुनर्गुरुणैवादौ कृतावेशविधिक्रमः ।

स वासनानुभावेन भूमिकाजयमारभेत्' ॥

(मा० वि० १२।२१)

इत्यादिना ।

'चतुर्विंशत्यमी प्रोक्ताः प्रत्येकं दशपञ्चधा ।

धारणाः क्षमादितत्त्वानां समासाद्योगिनां हिताः ॥'

(मा० वि० १६।१७)

इत्यन्तेन श्रीपूर्वशास्त्र एव सप्रपञ्चमुक्तमिति
तत एवावधार्यम्, इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्न
प्रातिपद्येन संवादितम् ॥ १०४ ॥

एवं पाञ्चदशं निरूप्य त्रायोदश्याद्यपि
निरूपयति ।

यदा तु मेयता पुंसः
कलान्तस्य प्रकल्प्यते ।

तदुद्भूतः कञ्चुकांशो
मेयो नास्य प्रमातृता ॥ १०५ ॥

अतः सकलसंज्ञस्य
प्रमातृत्वं न विद्यते ।

त्रयोदशत्वं तच्छक्ति-
शक्तिमद्वयवर्जनात् ॥ १०६ ॥

न्यग्भूतकञ्चुको माता
युक्त[यत]स्तत्र लयाकलः ।

मायानिविष्टो विज्ञाना-
कलाद्याः प्राग्वदेव तु ॥ १०७ ॥

मायातत्त्वे ज्ञेयरूपे
कञ्चुकन्यग्भवोऽपि यः ।

सोऽपि मेयः कञ्चुकैक्यं
यतो माया सुसूक्ष्मिका ॥ १०८ ॥

विज्ञानाकल एवात्र
 ततो मातापकञ्चुकः ।
 मायानिविष्टेऽप्यकले
 तथेत्येकादशात्मता ॥ १०९ ॥
 विज्ञानकेवले वेद्ये
 कञ्चुकध्वंससुस्थिते ।
 उहुभूषुप्रबोधानां
 मन्त्राणामेव मातृता ॥ ११० ॥
 तेऽपि मन्त्रा यदा मेया-
 स्तदा माता तदीश्वरः ।
 स ह्युद्भवात्पूर्णबोध-
 स्तस्मिन्प्राप्ते तु मेयताम् ॥ १११ ॥
 उद्भूतपूर्णरूपोऽसौ
 माता मन्त्रमहेश्वरः ।
 तस्मिन्विज्ञेयतां प्राप्ते
 स्वप्रकाशः परः शिवः ॥ ११२ ॥
 प्रमाता स्वकतादात्म्य-
 भासिताखिलवेद्यकः ।

पुंसः कलान्तस्येति पुंस्तत्त्वादारभ्य कला-
 न्तस्य तत्त्वषट्कस्येत्यर्थः । अस्येत्युद्भूतस्य कञ्चु-
 कषट्कस्य मेयत्वात् । त्रयोदशत्वमिति सक-
 लस्य तच्छक्तेश्च प्रमेयतया स्वरूपीभूतत्वात् ।
 नन्वत्र सकलस्य प्रमेयत्वं प्रलयाकलस्य च
 प्रमातृत्वमित्युक्तं विज्ञानाकलादीनां पुनः का
 व्यवस्था इत्याशङ्क्योक्तं विज्ञानाकलाद्याः प्रा-
 ग्वदेवेति । सकलेऽपि प्रमातरि यथैषां प्रमा-
 तृत्वं तथैवेत्यर्थः । ननु मायातत्त्वे ज्ञेये कञ्चु-
 कन्यग्भावोऽपि कस्माज्ज्ञेय इत्याशङ्क्योक्तं
 कञ्चुकैक्यं यतो मायेति । अत्रापि हेतुः सुसू-
 क्ष्मकेति, अनुद्भिन्नविभागा हि कारणदशे-
 त्याशयः । 'तत' इति न्यग्भूतकञ्चुकस्य प्रल-
 याकलस्यापि स्वरूपीभूतत्वात् । मन्त्राणामे-
 वेति नतु विज्ञानाकलस्यापि येनात्र नवधा-
 त्वम् । तदीश्वर इति मन्त्रेश्वरः । स्वकतादा-
 त्म्येति नतु मन्त्रमन्त्रेश्वरादिवज्ज्ञेदाभेदादिरूप-
 तयेत्यभिप्रायः । एतच्चाह्निकारम्भ एव निर्णीत-
 प्राथमिति नेह पुनरायस्तम् ॥ ११२ ॥

ननु तस्मिन्नपि विज्ञेयतां प्राप्ते कः प्रमाते-
त्याशङ्क्याह

शिवः प्रमाता नो मेयो

ह्यन्याधीनप्रकाशता ॥ ११३ ॥

मेयता सा न तत्रास्ति

स्वप्रकाशो ह्यसौ प्रभुः ।

परप्रकाशत्वं नाम मेयत्वं तच्चास्य स्वप्रका-
शत्वान्न विद्यते, इति कथं शिवस्यापि प्रमा-
त्रन्तरवन्मेयता भवेदित्यर्थः ॥ ११३ ॥

ननु परप्रकाशत्वेनैव सर्वेषां प्रकाशः सि-
द्ध्येदिति किं स्वप्रकाशत्वेनाप्यभ्युपगतेनेत्या-
शङ्क्याह

स्वप्रकाशेऽत्र कस्मिंश्चि-

दनभ्युपगते सति ॥ ११४ ॥

अप्रकाशात्प्रकाशत्वे

ह्यनवस्था दुरुत्तरा ।

ततश्च सुप्तं विश्वं स्या-

न्न चैवं भासते हि तत् ॥११५॥

अप्रकाशादेव प्रकाशेऽभ्युपगम्यमाने प्रमा-
त्रन्तरकल्पना न विरमेदिति मूलक्षतिकारिणी
व्यक्तमनवस्था पतेत् येन न किञ्चिदपि प्रका-
शेतेति मूर्च्छितप्रायमेव विश्वं स्यात्, प्रसङ्ग-
विपर्ययपर्यवसायितामेव चास्य प्रसङ्गस्य प्रति-
पादयति न चैवमित्यादिना ॥ ११५ ॥

ननु भासते चेद्विश्वं तर्हि

‘प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किंनिबन्धनः ।

इति भङ्ग्या तस्यैव स्वप्रकाशत्वमस्तु किम-
वान्तरेणेत्याशङ्क्याह

अन्याधीनप्रकाशं^१ हि

तद्वात्यन्यस्त्वसौ शिवः ।

अन्यमेव हि प्रमातारमपेक्ष्य विश्वं प्रका-
शते नतु स्वत इति तदधीन एवास्य प्रकाशः,
अन्यश्च प्रमाता शिव एवेत्युपपादितं प्राग्ब-
हुशः । स एव च स्वप्रकाश इत्यभ्युपेतमन्यथा
हि न किञ्चिच्चकास्यात् ॥

तदादिसिद्धत्वादस्य न साधकेन प्रमाणेन
किञ्चित्कृतमित्याह

इत्यस्य स्वप्रकाशत्वे

किमन्यैर्युक्तिडम्बरैः ॥ ११६ ॥

मानानां हि परो जीवः

स एवेत्युक्तमादितः ।

प्रत्युत प्रमाणानां तदधीना सिद्धिरित्या-
दितः प्रथमाह्निक एवोपपादितमित्यर्थः । य-
दुक्तं तत्र

‘प्रकाशो नाम यश्चायं सर्वत्रैव प्रकाशते ।

अनपह्नवनीयत्वात्किं तस्मिन्मानकल्पनैः ॥

प्रमाणान्यपि वस्तूनां जीवितं यानि तन्वते ।

तेषामपि परो जीवः स एव परमेश्वरः ॥’ १।५५

इति ॥ ११६ ॥

ननु ‘सकृद्विभातोऽयमात्मा’ इत्याद्युपदे-
शान्यथानुपपत्त्या स्वप्रकाशेऽपि शिवे वेद्यत्व-
मस्ति, इति कथमुक्तं ‘न मेयः शिवः’ इती-
त्याशङ्क्याह

नन्वस्ति स्वप्रकाशोऽपि

शिवे वेद्यत्वमीदृशः ॥ ११७ ॥

उपदेशो[श्यो]पदेष्टृत्व-

व्यवहारोऽन्यथा कथम् ।

ईदृश इति सकललोकसाक्षिकश्चिरतर-
निरूढ इत्यर्थः ॥ ११७ ॥

एतदेवाभ्युपगम्य विशेषयति

सत्यं स तु तथा सृष्टः

परमेशेन वेद्यताम् ॥ ११८ ॥

नीतो मन्त्रमहेशादि-

कक्ष्यां समधिशाय्यते ।

एवमेतत् किंतु

‘.....बध्नात्यात्मानमात्मना’ ।

इति भङ्ग्या स्वस्वातर्घ्यात्परमेश्वरेण स शिवस्त-
थोपदेश्यत्वेन सृष्टत्वाद्देवतां नीतः सन्मन्त्रमहे-
श्वरादिदशाधिशायी संपाद्यते इत्यर्थः ॥११८॥

नन्वेवं शिवस्वरूपमेव प्रत्यवमृष्टं न स्या-

दिति तत्र क्रियमाणमपि भावनादि व्यर्थमे-
वेत्याशङ्क्याह

तथाभूतश्च वेद्योऽसौ

नानवच्छिन्नसंविदः ॥ ११९ ॥

पूर्णस्य वेद्यता युक्ता

परस्परविरोधतः ।

एवं मन्त्रमहेश्वरादिदशाधिशायित्वाद्सौ
शिवो वेद्योऽपि तथाभूतोऽनवच्छिन्नपूर्णसंवि-
दात्मकः शिव एवेत्यर्थः । न ह्येवंविधेऽस्मिन्वे-
द्यत्वं न्यार्य्यं जाड्याजाड्ययोरेकत्र विरो-
धात् ॥ ११९ ॥

ननु यद्येवं वेद्यरूपोऽपि शिव एव तत्कथं
तथाभावाविशेषात्तृणपर्णादावपि शिवभावना
न फलेदित्याशङ्क्याह

तथा वेद्यस्वभावेऽपि

वस्तुतो न शिवात्मताम् ॥ १२० ॥

कोऽपि भावः प्रोज्झतीति

सत्यं तद्भावना फलेत् ।

कोऽपीति तृणपर्णपाषाणादिरपीत्यर्थः । यद्-
भिप्रायेणैव

तृणात्पर्णाच्च पाषाणात्काष्ठात्कुड्यात्स्थलाज्जलात् ।

उद्गच्छ गच्छ मे त्राणं विभो कनु न ते स्थितिः ॥

इत्याद्याचार्यैरुक्तम् ॥ १२० ॥

नचैतदागमेष्वपि असिद्धतयैवोक्तमपि तु
अत एव न्यायादित्याह

श्रीपूर्वशास्त्रे तेनोक्तं

शिवः साक्षान्न भिद्यते ॥१२१॥

नन्वत्र 'शिवो न भिद्यते' इति भेदनिषेध
एवोक्तो नतु तस्यैव भूमिकान्तरप्राप्त्या भेद
इत्याशङ्क्याह

साक्षात्पदेनायमर्थः

समस्तः प्रस्फुटीकृतः ।

एवं न्यूनसंख्यानिरासेन पाञ्चदश्याद्युप-
दिष्टम् । इदानीं तदेव यथासंभवमाशङ्कापुरः-
सरमधिकसंख्यानिरासेन द्रढयितुमाह

नन्वेकरूपतायुक्तः

शिवस्तद्वशतो भवेत् ॥ १२२ ॥

त्रिवेदतामन्त्रमहा-

नाथे कात्र विवादिता ।

कान्यत्र विवादिता, इत्याशङ्क्याह

महेश्वरेशमन्त्राणां

तथा केवलिनोर्द्वयोः ॥ १२३ ॥

अनन्तभेदतैकैकं

स्थिता सकलवत्किल ।

सकलवदिति तस्य देहादेरारभ्य सर्व
भिन्नं येन संतानभेदः ॥ १२३ ॥

अत एवाह

ततो लयाकले मेये

प्रमातास्ति लयाकलः ॥१२४॥

अतस्त्रयोदशत्वं स्या-

दित्थं नैकादशात्मता ।

विज्ञानाकलवेद्यत्वेऽ-

प्यन्यो ज्ञानाकलो भवेत् ॥१२५

माता तदेकादशता

स्यान्नैव तु नवात्मता ।

एवं मन्त्रतदीशानां

मन्त्रेशान्तरसंभवे ॥ १२६ ॥

वेद्यत्वान्नव सप्त स्युः

सप्त पञ्च तु ते कथम् ।

इत्थं लयाकलादीनामानन्त्यात् । मन्त्रेशेति-
शब्देन मन्त्रेश्वराः, तेन मन्त्रान्तराणामीशा-
न्तराणां च संभव इति । तत्र सकलस्य सक-
लान्तरवेद्यत्वे मौलस्य सशक्तिकस्य प्रमातृसप्त-
कस्यैव भावात्पाञ्चदश्यमेव, सकलस्य च स्वरू-
पीभावे लयाकलादेः सशक्तिकस्य प्रमातृष-
ट्कस्य भावात् त्रायोदश्यमेवेति नास्ति विवादः ।
लयाकलस्य तु लयाकलान्तरवेद्यत्वे प्रमातृणां
तादवस्थ्यात् त्रायोदश्यमेव स्यात्, विज्ञानाक-
लादेश्च विज्ञानाकलान्तरादिवेद्यत्वेऽपि अनेनैव
न्यायेन प्रतिप्रमातृ भेदद्वयमधिकीभवेदिति
कथमुक्तं

.....रुद्रवत्प्रलयाकलः ।

तद्वन्मायापि विज्ञेया नवधा ज्ञानकेवलाः ॥

मन्त्राः सप्तविधास्तद्वत्पञ्चधा मन्त्रनायकाः ।

(मा० वि० २।६)

इति ॥ १२६ ॥

एतच्चाभ्युपगम्य प्रतिविधत्ते

उच्यते सत्यमस्त्येषा

कलना किंतु सुस्फुटः ॥ १२७॥

यथात्र सकले भेदो

न तथा त्वकलादिके ।

ननु कोऽसौ सुस्फुटः सकले भेदो यः प्रल-
याकलादौ नास्तीत्याशङ्क्याह

अनन्तावान्तरेदक्ष-

योनिभेदवतः स्फुटम् ॥१२८॥

चतुर्दशविधस्यास्य

सकलस्यास्ति भेदिता ।

ईदृक्षेति प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणः । भेदितेति
देवमनुष्यादिभेदवत्त्वमित्यर्थः ॥ १२८ ॥

ननु प्रबुद्धसंस्काराः प्रलयाकला एव तथा
तथा सकलीभवन्तीति सर्वत्रैवोक्तं, तत्तेषामेव
यो भेदो नास्ति स कथं सकलानामपि स्या-
दित्याशङ्क्याह

लयाकले तु संस्कार-

मात्रात्सत्यप्यसौ भिदा ॥१२९॥

अकलेन विशेषाय

सकलस्यैव युज्यते ।

संस्कारमात्रेण सतोऽपि भेदस्य विशेषा-
योगे विशेषणद्वारेणाकलत्वं हेतुः, प्रलयाक-
लस्य हि न किञ्चिच्चेतितवानहमिति अपवे-
द्यत्वे, सुखमहमस्वाप्समिति सवेद्यत्वेऽपि यत्र
बाह्यार्थवेदनमपि नास्ति तत्र का वार्ता प्रमा-
त्रन्तरवेदने येन त्रायोदश्यं स्यात् ॥ १२९ ॥

विज्ञानाकलादीनां पुनः संस्कारमात्ररू-
पोऽपि भेदो नास्तीत्याह

विज्ञानकेवलादीनां

तावत्यपि न वै भिदा ॥१३०॥

शिवस्वाच्छन्द्यमात्रं तु

भेदायैषां विजृम्भते ।

तेषां हि शुद्धबोधाद्येकरूपत्वेऽपि परमेश्व-
रस्वातन्त्र्यविजृम्भामात्ररूप एव पारस्परिको

भेद इत्युक्तं 'शिवस्वाच्छन्द्यमात्रं तु भेदा-
यैषां विजृम्भते ।' इति यदुक्तम्

'बोधादिलक्षणैक्येऽपि येषामन्योन्यभिन्नता ।
तथेश्वरेच्छाभेदेन ते च विज्ञानकेवलाः ॥'

(ई० प्र०३।२।७)

इति । अतश्च शुद्धबोधाद्येकरूपत्वाद् विज्ञा-
नाकलादीनां यत्रैवं भेदो नास्ति तत्र का वार्ता
यथोत्तरं पूर्णदृक्रियायोगिनां मन्त्रमन्त्रेश्वरमन्त्र-
महेश्वराणामित्येतत्स्वकण्ठेन नोक्तम् । अतश्च
सकलात्प्रलयाकलादीनामेवं विशेषः,—इति
नात्र प्रलयाकलादेः प्रलयाकलान्तरादिवेद्य-
त्वमस्तीति न संख्यायामेवमाधिक्यं भगवानु-
पादिशत् ॥ १३० ॥

तदाह

इत्याशयेन संपश्य-

न्विशेषं सकलादिह ॥ १३१ ॥

लयाकलादौ नोवाच

त्रायोदश्यादिकं विभुः ।

इयता भावधर्मवेद्यतामूलं पाञ्चदश्याद्यु-
पपादितम् ॥ १३१ ॥

अधुना तु तदेव घटयितुं प्रलयाकलवि-
ज्ञानाकलापेक्षया तन्मूलभूता वेद्यतैव नास्ती-
त्याशङ्कते

नन्वस्तु वेद्यता भाव-

धर्मः किंतु लयाकलौ ॥१३२॥

मन्वाते नेह वै किञ्चि-

त्तदपेक्षा त्वसौ कथम् ।

प्रलयाकलविज्ञानाकलौ हि प्रसुप्तभुजगशून्यसमाधिस्थयोगिप्रायत्वान्न किञ्चिज्जानीतः,-
इति तयोर्वेदितृत्वमेव नास्तीत्याश्चर्यं तदपेक्ष-
यापि कथंकारं वेद्यता भावधर्मः स्यात् ॥१३२॥

एतदेव प्रतिविधत्ते

श्रूयतां संविदैकात्म्य-

तत्त्वेऽस्मिन्संव्यवस्थिते ॥१३३॥

जडेऽपि चित्तिरस्त्येव

भोत्स्यमाने तु का कथा ।

स्वबोधवासरे ताव-

द्भोत्स्यते लयकेवली ॥१३४॥

१ क० ख० पु० नहीति पाठः । २ ग० पु० भोत्स्यमान इति पाठः ।
३ त० पु० भोत्स्यते इति पाठः ।

द्विविधश्च प्रबोधोऽस्य

मन्त्रत्वाय भवाय च ।

संविदद्वैतपरमार्थे हि अस्मिन्दर्शने यत्र
नीलसुखादिर्जडोऽपि चेतनस्तत्र प्रबुभुत्सौ
प्रलयाकलादौ प्रमातरि का वार्तेति प्रलया-
कलविज्ञानाकलयोरस्त्येव वेदितृत्वं येन वेद्य-
तापि भावधर्मो भवेत् ॥ १३४ ॥

ननु यद्येवं तत्कदा कस्य बोध इत्या-
शङ्क्याह

भावनादिबलादन्य-

वैष्णवादिनयोदितात् ॥ १३५ ॥

यथास्वमाधरौत्तर्य-

विचित्रात्संस्कृतस्तथा ।

लीनः प्रबुद्धो मन्त्रत्वं

तदीशत्वमथैति वा ॥ १३६ ॥

स्वातन्त्र्यवर्जिता ये तु

बलान्मोहवशीकृताः ।

लयाकलात्स्वसंस्कारा-

त्प्रबुद्ध्यन्ते भवाय ते ॥ १३७ ॥

तथेति यथास्वमाधरौत्तर्येणैवेत्यर्थः । वैष्ण-
वादिनयानां च यथास्वमाधरौत्तर्यं पूर्वमेव
वितत्य निर्णीतमिति नेहायस्तम् । तदुक्तं
प्राक्

‘ये पुनः कर्मसंस्कारहान्यै प्रारब्धभावनाः ।

भावनापरिनिष्पत्तिमप्राप्य प्रलयं गताः ॥

महान्तं ते तथान्तःस्थभावनापाकसौष्टवात् ।

मत्रत्वं प्रतिपद्यन्ते चित्राच्चित्रं च कर्मतः ॥’

(९।१४१)

इति । स्वातन्त्र्यवर्जिता इति वैष्णवादि-
नयान्तरोदितभावनाद्यनुष्ठानशक्तिशून्या इ-
त्यर्थः । अत एवोक्तं ‘बलान्मोहवशीकृता’
इति ॥ १३७ ॥

न केवलं प्रलयाकल एव द्विधा बुद्ध्यते
यावद्विज्ञानाकलोऽपीत्याह

ज्ञानाकलोऽपि मन्त्रेश-

महेशत्वाय बुद्ध्यते ।

मन्त्रादित्वाय वा जातु

जातु संसृतयेऽपि वा ॥ १३८ ॥

मन्त्रादित्वायेत्यादिशब्दान्न शिवत्वाया-
पीति विशेषयति मन्त्रेशमहेशत्वायेति । ईशा
मन्त्रेश्वराः ॥ १३८ ॥

ननु विज्ञानाकलस्य

‘निष्कर्मा हि स्थिते मूलमलेऽप्यज्ञाननामनि ।

वैचित्र्यकारणाभावान्नोर्ध्वं सरति नाप्यधः ॥

केवलं पारिमित्येन शिवाभेदमसंसृशन् ।

विज्ञानकेवली प्रोक्तः शुद्धविज्ञानसंस्थितः ॥

स पुनः शाम्भवेच्छातः शिवाभेदं परामृशन् ।

क्रमान्मन्त्रेशतन्नेतृरूपो याति शिवात्मताम् ॥’ (१।९३)

इत्यादिप्रागुक्तयुक्त्या मन्त्रमन्त्रेश्वरमन्त्रमहेश्वर-
त्वायाभिधीयतां प्रबोधः, कथं पुनः संसृत-
येऽपि जातु बुद्ध्यते, इत्युक्तमित्याशङ्क्याह

अवतारो हि विज्ञानि-

योगिभावेऽस्य भिद्यते ।

विज्ञानाकलस्य हि अस्मद्दर्शनानुसारं विज्ञा-

नित्वेन योगित्वेन चावतारान्नेतरवत्संसृति-
रित्युक्तम् 'अवतारोऽस्य भिद्यते' इति ॥

एवमस्योपपादितं प्रबोधं संवादयति

उक्तं च बोधयामास

स सिसृक्षुर्जगत्प्रभुः ॥ १३९ ॥

विज्ञानकेवलानष्टा-

विति श्रीपूर्वशासने ।

तदुक्तं तत्र

'स सिसृक्षुर्जगत्सृष्टेरादावेव निजेच्छया ।

विज्ञानकेवलानष्टौ बोधयामास पुद्गलान् ॥'

(मा० वि० १।१९)

इति ॥ १३९ ॥

नन्वप्रबुद्धयोस्तावह्लयाकलयोर्वेदितृत्वं ना-
स्तीत्यविवादः, प्रबुद्धौ च तौ सकलमन्त्रादि-
रूपतां प्राप्नुतः,—इति तदपेक्षयैव तदा वेद्यता
भावधर्मः स्यान्न लयाकलापेक्षयेत्येवमपि पा-
ञ्चदश्यादिक्रमो विघटेतेत्याशङ्क्याह

अतः प्रभोत्स्यमानत्वे

यानयोर्बोधयोग्यता ॥ १४० ॥

तद्वलाद्वेद्यतायोग्य- भावेनैवात्र वेद्यता ।

अतः समनन्तरोक्ताह्यायादनयोः प्रलया-
कलविज्ञानाकलयोः प्रभोत्स्यमानत्वे प्रबुभु-
त्सुदशार्थां समनन्तरमेव वेदितृत्वस्यावश्यम-
भिव्यक्तेर्या बोधे योग्यता पात्रत्वं तदपेक्षया च
योग्यतारूपतैव वेद्यतापि धरादौ संभवतीति
को नामात्र विघटनावकाशः ॥ १४० ॥

एतदेव निदर्शयति

तथाहि गाढनिद्रेऽपि

प्रियेऽनाशङ्कितागताम् ॥ १४१

मां द्रक्ष्यतीति नाङ्गेषु

स्वेषु मात्यभिसारिका ।

प्रियस्य गाढनिद्रामूढत्वाद्भाविनीमपि स्वा-
त्मनि तद्वेद्यतां संभाव्याभिसारिकाया एवं
संमदातिशय इत्यस्य निद्रितत्वेऽपि भावबोध-
संबन्धनिबन्धनात्मिकया योग्यतया वेदितृत्व-
मस्ति येनैवमुक्तम् ॥ १४१ ॥

एतदेव प्रकृते योजयति ।

एवं शिवोऽपि मनुते

एतस्यैतत्प्रवेद्यताम् ॥ १४२ ॥

यास्यतीति सृजामीति

तदानीं योग्यतैव सा ।

वेद्यता तस्य भावस्य

भोक्तृता तावती च सा ॥१४३॥

लयाकलस्य चित्रो हि

भोगः केन विकल्प्यते ।

एतस्य लयाकलादेरेतद्भावजातं स्वबोधा-
वसरे प्रकर्षेण न त्विदानीमिव योग्यतामात्रेण
वेद्यतां यास्यतीति, अतो हेतोर्ग्राह्यग्राहकरूप-
तया परस्परानुरूपं युगलमिदं निर्मिणोमि
इत्येवं भगवान् शिवोऽपि परामृशतीति, तदानीं
प्रलयाकलाद्यवस्थायां योग्यतयैव वेद्यता भाव-
धर्म इत्यर्थः । ननु वेद्यता भावस्यौपचारिकी
मुख्या वा, योग्यतामात्रेण भवतु नाम वेदि-
तता. कथमेवं भवेत सा हि भोक्तृता भोगश्च

सुखदुःखाद्यनुभवः, इति तदभावे लयाकलादौ
वेदितृता तदपेक्षा च वेद्यतापि कथं तिष्ठेता-
मित्याशङ्क्याह भोक्तृतेत्यादि । तावतीति सुख-
दुःखाद्यनुभवरूपप्ररोहावस्थाविलक्षणयोग्यता-
मात्ररूपैवेत्यर्थः । ननु किमिदमपूर्वं परि-
भाष्यते भाविभोगसंबन्धनिबन्धना भोक्तृतेति,
नहि भावनास्थविरभावेन बालोऽपि स्थविर
इत्यनुपचरितं युज्यते वक्तुमित्याशङ्क्याह चित्रो
हीत्यादि । भोगो हि देशकालावस्थास्वालक्ष-
ण्यादिवैचित्र्येण नानाविधो भोक्तृणां व्यव-
तिष्ठते, यथा स्फुट एव सुखदुःखाद्यनुभवो भोग
इति न नियन्तुमुचितमस्फुटेऽपि तथाभावात् ।
एवं भावितायामस्फुटतरेऽपि योग्यतामात्रेण
भवेदेव भोगव्यवहारस्तत्तद्भोक्त्रौचित्येन तथा
तथा भोगोपपत्तेः ॥ १४३ ॥

तदेव दर्शयति

यथा यथा हि संवित्तिः

स हि भोगः स्फुटोऽस्फुटः १४४

स्मृतियोग्योऽप्यन्यथा वा

भोग्यभावं न तूज्झति ।

यथा यथेति स्फुटत्वेनास्फुटत्वेन वा
अन्यथा वापीति अपिभिन्नक्रमः । अन्यथेति
स्फुटत्वान्मार्गगमनादावविमृष्टदृष्टतृणशर्करा-
दिवत्स्मर्तुमयोग्य इत्यर्थः ॥ १४४ ॥

अत्रैव दृष्टान्तयति

गाढनिद्राविमूढोऽपि

कान्तालङ्घितविग्रहः ॥ १४५ ॥

भोक्तैव भण्यते सोऽपि

मनुते भोक्तृतां पुरा ।

भण्यते इति लोकैः । सोऽप्यर्थात्प्रबुद्धः ।

पुरेति गाढमूढदशायामपीत्यर्थः ॥ १४५ ॥

न केवलं मूढदशायामेव योग्यतामात्रेण
भोक्तृभोग्यभावो भवेद्यावद्मूढदशायामपी-
त्याह

उत्प्रेक्षामात्रहीनोऽपि

कांचित्कुलवधूं पुरः ॥ १४६ ॥

संभोक्ष्यमाणां दृष्ट्वैव

रभसाद्याति संमदम् ।

उत्प्रेक्षेति कुलवधूविषयः संकल्पः । संभो-
क्ष्यमाणामित्यदृष्टवशात्करिष्यमाणसंभोगामि-
त्यर्थः । अत एव रभसादवलोकनसमनन्तर-
मेव आवेगवताभिलाषेण लब्धलाभ इव
संमदं संभोगसमुचितामानन्दमयतामियाद्ये-
नास्य भोक्तृभावो भवेत् ॥ १४६ ॥

ननु संभुज्यमानापि कुलवधूर्यदि योग्यता-
मात्रेण कंचित्प्रति भोग्या तदविशेषात्सर्वा-
न्प्रत्येवास्तु,—इत्याशङ्क्याह

तामेव दृष्ट्वा च तदा

समानाशयभागपि ॥ १४७ ॥

अन्यस्तथा न संवित्ते

कमत्रोपलभामहे ।

तदेत्येकतरसंमदावसरे इत्यर्थः । समाना-
शयभागपीति तेनैव भोक्त्रा सदृशरागादि-
वासनोऽपीत्यर्थः ॥ १४७ ॥

ननु कारणाविशेषेऽपि कार्यं कचिदेव
नान्यत्रेति निर्हेतुककार्यनियमवादिन एवो-
पालभ्या, इत्याशङ्क्य दृष्टान्तदृशोपपादयति ।

लोके रूढमिदं दृष्टि-

रस्मिन्कारणमन्तरा ॥ १४८ ॥

प्रसीदतीव मग्नेव

निर्वातीवेतिवादिनि ।

दृष्टिरित्यादिवादिनि लोके इदं रूढमिति
समन्वयः, इदमिति कारणाविशेषेऽपि कचि-
देव कार्यमिति, कारणमन्तरेति प्रसिद्धकार-
णाभावेनेत्यर्थः, तेन दृष्टकारणसामग्र्यविशेषेऽ-
पि अदृष्टवशात्कचिदेव दृष्टिप्रसादादिलक्षणो
भोगो भवेदित्यमूढदशायामपि योग्यतया भो-
क्तृभोग्यभावदर्शनाल्लयाकलादीनामपि तथा-
भावोपपत्तेः सिद्धः पाञ्चदश्यादिभेद इति १४८

उपसंहरति

इत्थं विस्तरतस्तत्त्व-

भेदोऽयं समुदाहृतः ॥ १४९ ॥

नन्वेकैव धरा सकलादिभिरैकैकमध्येन द्वि-
कत्रिकादिक्रमात्साहित्येन वा वेद्यत इति
कथं पाञ्चदश्यादेरप्याधिक्यं न स्यादित्या-
शङ्क्याह

शक्तिशक्तिमतां भेदा-

दन्योन्यं तत्कृतेष्वपि ।

भेदेष्वन्योन्यतो भेदा-

त्तथा तत्त्वान्तरैः सह ॥१५०॥

भेदोपभेदगणनां

कुर्वतो नावधिः क्वचित् ।

एवं च भुवनादेरपि वैचित्र्यमवतिष्ठते,-
इत्याह

तत एव विचित्रोऽयं

भुवनादिविधिः स्थितः ॥१५१॥

तदुक्तम्

भेदः प्रकथितो लेशादनन्तो विस्तरादयम् ।

एवं भुवनमालापि भिन्ना भेदैरिमैः स्फुटम् ।' (मा०वि०२।८)

इति ॥ १५१ ॥

वैचित्र्यमेवात्र दर्शयति

पार्थिवत्वेऽपि नो साम्यं

रुद्रवैष्णवलोकयोः ।

का कथान्यत्र तु भवे-

द्भोगे वापि स्वरूपके ॥ १५२ ॥

यत्र समानेऽपि पार्थिवत्वे रौद्रे वैष्णवे च लोके भोगस्वरूपयोर्वैचित्र्यमस्ति, ततोऽन्यत्र पार्थिवाप्याद्यात्मनि भुवनादौ तयोः का वार्तेत्युक्तं 'का कथान्यत्र तु भवेत्' इति ॥ १५२ ॥

ननूच्यतां विस्तारो येन भुवनादावेवं वैचित्र्यमित्याशङ्कयाह

स च नो विस्तरः साक्षा-

च्छक्यो यद्यपि भाषितुम् ।

तथापि मार्गमात्रेण

कथ्यमानो विविच्यताम् १५३

एवमत्र शक्तिशक्तिमतां भेदादित्यादिना ग्रहणवाक्येनासूत्रितो भेदोपभेदात्मा विस्तरस्तावद्दिङ्मात्रेणाभिधीयते ॥ १५३ ॥

तत्र शक्तिशक्तिमतां मौलश्रुतुर्दशविधः
 ।मनन्तरमेवोक्तोऽन्योन्यं च तेषां भेदाद्वा-
 तरमपि भेदजातं भवेदित्याह

सप्तानां मातृशक्तीना-
 मन्योन्यं भेदने सति ।

रूपमेकान्नपञ्चाश-

त्स्वरूपं चाधिकं ततः ॥१५४॥

एकान्नपञ्चाशदिति, सप्तानां सकलादि-
 मातृशक्तीनां ताभिरेव सप्तभिर्गुणनात् १५४

नन्वन्यसंबन्धिनी शक्तिः कथमन्यं भि-
 यात्, न हि पटस्यातानवितानवत्त्वेन घट-
 तथा स्यादित्याशङ्क्याह

सर्वे सर्वात्मकं यस्मा-

त्तस्मात्सकलमातरि ।

लयाकलादिशक्तीनां

संभवोऽस्त्येव तत्त्वतः ॥१५५॥

नन्वेवं वस्तुतः संभवेत् किंतु न तथा
 लक्ष्यत इत्याशङ्क्याह

स त्वस्फुटोऽस्तु भेदांशं

दातुं तावत्प्रभुर्भवेत् ।

वस्तुवृत्तमधिकृत्य हि भेदोपदर्शनमिहो-
पक्रान्तमित्याशयः ॥

एवं शक्तिमतामन्योन्यं भेदने सति एको-
नपञ्चाशदात्मनामपि भेदानां तत्कृतेष्वपि भे-
देष्वन्योन्यतो भेदादित्यासूत्रितमनेकप्रकारत्वं
भवेदित्याह

तेषामपि च भेदाना-

मन्योन्यं बहुभेदता ॥ १५६ ॥

अन्योन्यमित्यर्थाद्भेदने सति, बहुभेदतेति
एकोनपञ्चाशत् एकोनपञ्चाशता गुणनादेको-
त्तरचतुर्विंशतिशतप्रकारतेत्यर्थः ॥ १५६ ॥

तत्त्वान्तरैः सहेत्युक्तं विभजति

मुख्यानां भेदभेदानां

जलाद्यैर्भेदने सति ।

मुख्यभेदप्रकारेण

विधेरानन्त्यमुच्यते ॥ १५७ ॥

मुख्यानां भेदभेदानामित्येकोनपञ्चाशः
पाणामुपभेदानामित्यर्थः । अमुख्यानां पुनरेष
मेवं गुणने भेदविधेरानन्त्ये का वार्ता इत्यु-
स्यात् । भेदने सतीति एकद्वित्रादिक्रमेण
मुख्यभेदप्रकारेणेति मुख्यस्य चतुर्दशविध-
भेदस्य प्रकारेण तद्वदित्यर्थः । अनेन मुख्य-
दानामपि धरादेरेकद्वित्रादिक्रमेण भेदने भे-
दविधेरानन्त्यमपि भवेदित्यनुवादाद्विधिः ॥१५७

न केवलमेषां वैचित्र्यं यावत्प्रकारान्तरेण
पीत्याह

सकलस्य समुद्भूता-

श्वक्षुरादिस्वशक्तयः ।

न्यग्भूताश्च प्रतन्वन्ति

भेदान्तरमपि स्फुटम् ॥१५८॥

यद्यपि

‘सकलस्य प्रमाणांशो योऽसौ विद्याकलात्मकः ।

सामान्यात्मा स शक्तित्वे गणितो न तु तद्भिदः ॥’

(१०।१२)

इति प्रागुक्तं, तथापि सामान्यस्य विशेषावि-
नाभावित्वाच्चक्षुरादिशक्तीनामप्यत्रावश्यमार्थ

सम्भव इत्युक्तं सकलस्य चक्षुरादिशक्तयः स-
मुद्भूता न्यग्भूताश्च भेदान्तराधानं कुर्वन्तीति
॥ १५८ ॥

एतदेव लयाकलादीनामप्यतिदिशति

एवं लयाकलादीनां

तत्संस्कारपदोदितात् ।

पाटवात्प्रक्षयाद्वापि

भेदान्तरमुदीयते ॥ १५९ ॥

तत्संस्कारेति तासां चक्षुरादिशक्तीनां
संस्कारो वासनेत्यर्थः, लयाकलस्यापि सकल-
वद्विद्याकलात्मिकैव शक्तिः, किंतु संस्काररूप-
तया तस्यास्तथा न स्फुटत्वम् । यदुक्तम्

‘लयाकलस्य मानांशः स एव परमस्फुटः ।’ (१०।१३)

इति ॥ १५९ ॥

ननु चक्षुरादिशक्तीनां यद्युद्भवतिरोभावौ
तद्वेद्यतायाः किमायातं येनैवं भेदान्तरोदयः
स्यादित्याशङ्क्याह

न्यकृतां शक्तिमास्थाया-
 प्युदासीनतया स्थितिम् ।
 अनाविश्येव यद्वेत्ति
 तत्रान्या वेद्यता खलु ॥१६०॥
 आविश्येव निमज्जयेव
 विकास्येव विघूर्ण्य च ।
 विदतो वेद्यतान्यैव
 भेदोऽत्रार्थक्रियोचितः ॥१६१॥

अनाविश्येव तृणशर्करादिन्यायेन उत्तान-
 तयेत्यर्थः । आविश्येव इत्यादौ यथोत्तरमप-
 कर्षः । आवेशो हि तन्मयीभावः, निमज्जन-
 मासङ्गात्मा तदन्तःप्रवेशः, विकासस्तदौत्सु-
 क्येन प्रसरणं, विघूर्णनं तदौन्मुख्येनोच्छलना-
 त्मकं स्पन्दनं, विदत इति उद्विक्तस्वशक्ते-
 रित्यर्थः । ननु फलाविशेषाद्वचनमात्रसारे-
 णामुना भेदेन कोऽर्थः,—इत्याशङ्क्योक्तं 'भेदो-
 ऽत्रार्थक्रियोचितः' इति । अनुद्भूतशक्तिकस्य

हि दृष्टमप्यदृष्टमिव न तथा निर्वृतिं पुष्येत्,
उद्भूतशक्तेः पुनरासज्य विषयं पश्यतः परश्च-
मत्कारातिशयो भवेदित्यर्थक्रियाकृत एवायं
भेदः किमुच्यते वचनमात्रसार इति ॥ १६१ ॥

तदेवान्वयव्यतिरेकगर्भं दृष्टान्तद्वारेण द्रव-
यति

अन्यशक्तितिरोभावे

कस्याश्चित्सुस्फुटोदये ।

भेदान्तरमपि ज्ञेयं

वीणावादकदृष्टिवत् ॥ १६२ ॥

वीणावादकस्य हि दृगादिशक्तिन्यग्भावे
श्रोत्रशक्तेरेवोद्भवः ॥ १६२ ॥

शक्तेश्च तिरोभावोद्भवौ विभजति

तिरोभावोद्भवौ शक्तेः

स्वशक्त्यन्तरतोऽन्यतः ।

चेत्यमानादचेत्याद्वा

तन्वाते बहुभेदताम् ॥ १६३ ॥

क्वचिद्धि चक्षुरादिशक्तेः स्वयमवधानानव-

धानाभ्यामुद्भवतिरोभावौ, क्वचिच्च वीणावाद-
कस्येव श्रोत्रादिशक्यन्तरात्, क्वचिच्चान्यतो
मन्त्रौषधादेः, सर्वं चैतच्चेत्यमानमचेत्यमानं वेति
भेदानामानन्त्यम् ॥ १६३ ॥

एतच्च भेदजातं धरादिगतैकैकभावादि-
प्रकारेणापि प्रथमं तावद्योज्यमित्याह

एवमेतद्धरादीनां

तत्त्वानां यावती दशा ।

काचिदस्ति घटाख्यापि

तत्र संदर्शिता भिदः ॥ १६४ ॥

तत्रेति एकघटाख्यदशायाम्, एवमने-
कदशावति तत्त्वे पुनः कियन्तो भेदा,—इति
को नाम वक्तुं शक्नुयादित्याशयः ॥ १६४ ॥

ननु यन्नामेदं शक्तेरुद्भवतिरोभावाद्युक्तं
तत्प्रमातुरतिशयो नान्यस्येति कथमेवंभेदभि-
न्नत्वं घटादेर्वेद्यस्यार्थस्य स्यादित्याशङ्क्याह

अत्रापि वेद्यता नाम

तादात्म्यं वेदकैः सह ।

ततः सकलवेद्योऽसौ

घटः सकल एव हि ॥ १६५ ॥

यावच्छिवैकवेद्योऽसौ

शिव एवावभासते ।

तावदेकशरीरो हि

बोधो भात्येव यावता ॥१६६॥

तत इति वेद्यवेदकयोस्तादात्म्यात्तेन यो
यत्प्रमातृवेद्योऽर्थः स तत्प्रमातृरूप एवेति
सिद्धम् । अर्थो हि तत्तत्प्रमातृमय एवेत्युपपा-
दितं प्राग् बहुशः । बोधो हि यावता वेद्यवेद-
कात्मना रूपेण परिस्फुरेत् तावता तत्तत्तादा-
त्म्यमय एवाखण्डपरप्रकाशात्मक इति यावत् ।
तदुक्तम्

‘यावन्न वेदका एते तावद्वेद्याः कथं प्रिये ।

वेदकं वेद्यमेकं तु तत्त्वं नास्त्यशुचि तंतः ॥’

इति ॥ १६६ ॥

एवं धरादौ भावभुवनादिगतत्वेन व्यस्तस-
मस्ततया पाञ्चदश्यामुपपाद्य, तत्त्वाश्रयतयाग-
मगर्भं सामस्येनैवाभिधत्ते

अधुनात्र समस्तस्य

धरातत्त्वस्य दर्श्यते ।

सामस्य एवाभिहितं

पाञ्चदश्यं पुरोदितम् ॥ १६७ ॥

धरातत्त्वाविभेदेन

यः प्रकाशः प्रकाशते ।

स एव शिवनाथोऽत्र

पृथिवी ब्रह्म तन्मतम् ॥ १६८ ॥

धरातत्त्वगताः सिद्धी-

र्वितरीतुं समुद्यतान् ।

प्रेरयन्ति शिवेच्छातो

ये ते मन्त्रमहेश्वराः ॥ १६९ ॥

अधुना प्राप्तावसरं समस्तस्य धरातत्त्वस्य
पुरोदितं व्यस्तसमस्तभेदभिन्नं पाञ्चदश्यं

सामस्य एवावान्तरप्रकारद्वारकवैयस्यपरि-
हारेण दर्श्यते, यतस्तत्तथैव प्रक्रान्ते श्रीपूर्व-
शास्त्रेऽभिहितं । तत्र तन्मूलभूतं प्रमातृसप्तकं
तावन्निर्दिशति धरेत्यादिना । ननु शिवो नाम
निखिलतत्त्वबृंहणाद्ब्रह्मेत्युच्यते तत्कथं नैय-
त्येन व्यवतिष्ठतामित्याशङ्क्योक्तं पृथिवी ब्रह्मे-
ति । यच्छ्रुतिः

‘पृथिव्येवेदं ब्रह्म’

इति । शिवेच्छात इति तेषामपि ह्यत्र शिवः
प्रेरक इत्यभिप्रायः ॥ १६९ ॥

के पुनः प्रेर्या इत्याशङ्क्याह

प्रेर्यमाणास्तु मन्त्रेशा

मन्त्रास्तद्वाचकाः स्फुटम् ।

धरातत्त्वगतं योग-

मभ्यस्य शिवविद्यया ॥१७०॥

न तु पाशवसांख्यीय-

वैष्णवादिद्वितादृशा ।

अप्राप्तध्रुवधामानो

विज्ञानाकलताजुषः ॥ १७१ ॥

तावत्तत्त्वोपभोगेन

ये कल्पान्ते लयं गताः ।

सौषुप्तावस्थयोपेता-

स्तेऽत्र प्रलयकेवलाः ॥ १७२ ॥

मन्त्रेशा इति तत्तन्मन्त्रवाच्याः शतरुद्राद्याः ।

तदुक्तम्

‘अर्थ्यमाणास्तु वाच्यांशभूमिं शक्त्या निवेशिताः ।

मन्त्रेशाः शतरुद्रादिविरिञ्चान्ततया स्थिताः ॥

शिवस्य नादशक्त्यन्तर्धरासंक्षोभसंभवाः ।

मन्त्रास्तद्वाचकास्तत्तत्फलदानसमुद्यताः ॥’

इति । द्वितादृशेति भेददृष्ट्या, अप्राप्तध्रुवधामान इति भावनानिष्पत्तिमप्राप्यान्तरा विलयात्, तावदिति धरादेः, लयं गता इत्यर्थादसत्त्वादौ, प्रलयादौ हि प्रलयकेवलिनामूर्ध्वोर्ध्वं तत्त्वेष्ववस्थानमित्युक्तं प्राक् । सौषुप्तावस्थयोपेता इति सुषुप्तावस्थिता इत्यर्थः ॥ १७२ ॥

ननु प्रलयाकलानां तत्त्वलीनत्वं रूपं,
तच्च देहादिप्रमातृसंस्कारसंभवमात्रात्मनि
सौषुप्ते न संभवेदिति कथंकारमेषां तदवस्थो-
पेतत्वमित्याशङ्क्याह

सौषुप्ते तत्त्वलीनत्वं

स्फुटमेव हि लक्ष्यते ।

अन्यथा नियतस्वप्न-

संदृष्टिर्जायते कुतः ॥ १७३ ॥

अन्यथेति तत्त्वलयाभावे इत्यर्थः । इह
किल जाग्रत इव स्वप्नसुषुप्तयोः, स्वप्नस्यापि
सुषुप्तादानन्तर्यं नियतमुपलभ्यते, न ह्यन्तः-
करणबहिष्करणविश्रान्तिमयमिदमनधिशया-
नः स्वप्नपदमास्कन्दतीति स्वप्नावस्थाया नि-
यतपूर्वभावि सौषुप्तं कारणं, कारणानुरूप्येण
च कार्योत्पत्त्या भवितव्यं, तद्यत्त्वविलयसारं
सौषुप्तं तत्त्वोचितभावभुवनादिमयी स्वप्नसृ-
ष्टिर्विभाव्यते, यथा धरालीनस्य पर्वतादिरो-
हणमबादिलीनस्य चोदन्वत्तरणादि ॥ १७३ ॥

ननु यदि सौषुप्तेऽपि निखिलवेद्यविलयात्मा
तत्त्वविलयस्तन्नियतवेद्यानुभवसंस्कारलब्धज-
न्मनः स्मृतेस्तदा प्रबुद्धस्य कोऽवसर इत्या-
शङ्कयाह

सौषुप्तमपि चित्रं च

स्वच्छास्वच्छादि भासते ।

अस्वाप्सं सुखमित्यादि-

स्मृतिवैचित्र्यदर्शनात् ॥१७४॥

चित्रमिति गुणत्रयमयत्वात्, अत एवोक्तं
स्वच्छास्वच्छादीति । तत्र स्वच्छे सत्त्वप्रधाने
'सुखमहमस्वाप्सम्' इति । अस्वच्छे तमःप्रधाने
'न किञ्चिच्चैतितवानहम्' इति । आदिग्रह-
णात् स्वच्छास्वच्छे रजःप्रधाने 'दुःखमहमस्वा-
प्सम्' इति स्मृतेर्वैचित्र्यम् । तदेतदन्यथानुप-
पत्त्या नायं नियमः, 'सौषुप्ते निखिलवेद्यवि-
लयः' इति, येन प्रबुद्धस्य स्मृतिर्विरुद्ध्येते-
त्याशयः ॥ १७४ ॥

न चेदं वाच्यं यत्तूलशयनसुखादिस्पर्शा-
नुभवसमुत्थेयं स्मृतिरितीत्याह

यदैव स क्षणं सूक्ष्मं
निद्रायैवं प्रबुध्यते ।

तदैव स्मृतिरेषेति

नार्थजज्ञानजा स्मृतिः ॥१७५॥

तदा हि स्यादेतदेवं यदा प्रथमं प्रबो-
धस्ततः सुखाद्यनुभवस्ततस्तदाहितसंस्कारजा
प्रबोधोपनिपाते स्मृतिरिति । न चात्रैवं प्रबो-
धस्मृत्योरेकक्षणभावित्वात् । तदाह यदैव प्रबु-
ध्यत इति तदैव स्मृतिरिति च ॥ १७५ ॥

अत एवात्र स्थिरप्रबोधाभावेऽप्यन्तरान्तरा
प्रबुद्धस्य विद्युदुन्मिषितन्यायेन तथानुभवा-
त्स्मृतिरित्यादि वदन्त उत्प्रेक्षितव्या,—इत्याह

तेन मूढैर्यदुच्येत

प्रबुद्धस्यान्तरान्तरा ।

तूलिकादिसुखस्पर्श-

स्मृतिरेषेति तत्कुतः ॥ १७६ ॥

तत्कुत इति निर्हेतुकमेवेत्यर्थः ॥ १७६ ॥

मायाकर्मसमुल्लास-

संमिश्रितमलाबिलाः ।

धराधिरोहिणो ज्ञेयाः

सकला इह पुद्गलाः ॥ १७७ ॥

मायेत्यादिनैषां त्रिमलबद्धत्वमुक्तम् ॥ १७७ ॥

एवं प्रमातृसप्तकं निर्दिश्य, सामान्येन
तच्छक्तिसप्तकं निर्देष्टुमाह

अस्यैव सप्तकस्य स्व-

स्वव्यापारप्रकल्पने ।

प्रक्षोभो यस्तदेवोक्तं

शक्तीनां सप्तकं स्फुटम् ॥ १७८ ॥

शिवो ह्यच्युतचिद्रूप-

स्तिस्त्रस्तच्छक्तयस्तु याः ।

ताः स्वातन्त्र्यवशोपात्त-

ग्रहीत्राकारतावशात् ॥ १७९ ॥

त्रिधा मन्त्रावसानाः स्यु-
रुदासीना इव स्थिताः ।

ग्राह्याकारोपरागान्तु
ग्रहीत्राकारतावशात् ॥ १८० ॥

सकलान्तास्तु तास्तिस्त्र
इच्छाज्ञानक्रिया मताः ।

स्वस्वव्यापारेति, स्वस्य स्वस्य स्तम्भादेः
सृष्ट्यादेश्च व्यापारस्य क्रियाया इत्यर्थः । एत-
च्चानेनैवान्यत्र विशेषेणोक्तम् । तद्यथा

‘तत्रैव धरणीनाम्नि भिन्नाभासिनि या पृथक् ।
स्तम्भादिकावलोक्येत शिवशक्तिरसौ भुवि ॥
अत्रैव सृष्टिविलयस्थित्यनुग्रहसंहतीः ।
सकलादिशिवान्तेयं विधत्ते विविधस्थितिः ॥
सेह मन्त्रमहेशानशक्तिस्तत्त्वाधिकारिणी ।
तत्तत्त्वमन्त्रवृन्देषु हठादेव हि पुद्गलान् ॥
या प्रेरयति माहेशी शक्तिः सा बोधभूमिगा ।
यया बुद्धयेत भूतत्वसद्भावं पीतलादिकम् ॥
त्वायते तद्विपक्षाच्च मन्त्रशक्तिरसौ मता ।
तत्तत्त्वभोगाभोगे या सम्यगौत्सुक्यदायिनी ॥

तावन्मात्रमलावस्था शक्तिर्वै ज्ञानकेवली ।
 प्रबुद्धस्फारतत्तच्चगतकर्माभिमुख्यतः ॥
 तद्भोगोन्मुखता शक्तिः प्रलयाकलगामिनी ।
 मायाकर्ममलव्यक्तिसमावेशे तु या स्थितिः ॥
 बाह्यान्तरेन्द्रियकृता नानावस्थानुयायिनी ।
 भोगसाधनशक्तिः सा सकलाणुसमाश्रया ॥'

इति । नन्वस्मद्दर्शने नरशक्तिशिवात्मकमेव विश्वमिति तत्र तत्रोद्धोष्यते तदिह कथमपूर्वतयेदमुच्यते,—इत्याशङ्क्याह शिव इत्यादि । तत्र शिवस्तावन्नित्यचिदात्मा परप्रमाता,—इति नास्ति विवादः । तच्छक्तिश्चेच्छाज्ञानक्रियात्मिका प्रस्फुरन्ती शुद्धाशुद्धरूपतया प्रमातृषट्कमुल्लासयति । तत्र मन्त्रमहेश्वरादेस्त्रयस्य ग्राह्याद्यनपेक्षणाच्छुद्धं ग्रहीतृत्वम् । विज्ञानाकलादेस्तु त्रयस्य ग्राह्याद्यपेक्षणादशुद्धं ग्रहीतृत्वम् । अत एवोक्तं स्वातन्त्र्यवशोपात्तेति, ग्राह्याकारोपरागात्त्विति च । 'त्रिधा मन्त्रावसाना'इति मन्त्रमहेश्वर-मन्त्रेश्वर-मन्त्ररूपा इत्यर्थः । उदासीना इवेत्यशुब्धाः, शुब्धत्वे ह्येषां शक्तित्वं भवेदिति भावः ॥ १८० ॥

एतदेवोपसंहरति

सप्तधेत्यं प्रमातृत्वं

तत्क्षोभो मानता तथा ॥१८१॥

मानतेति शक्तिरूपतयेत्यर्थः ॥ १८१ ॥

नन्वेवं चातुर्दशमेवाभिहितं स्याच्छिवश-
क्त्यात्मकं द्विकं वेत्याशङ्क्याह

यत्तु ग्रहीतृत्वारूप-

संवित्संस्पर्शवर्जितम् ।

शुद्धं जडं तत्स्वरूप-

मित्यं विश्वं त्रिकात्मकम् १८२

संवित्संस्पर्शवर्जनादेव शुद्धम्, अत एव
जडं वेद्यतायाः प्राधान्यान्नरात्मकमित्यर्थः ।

यदुक्तम्

‘यदा तु ग्राहकावेशविस्मृतेर्जडता स्फुटम् ।

पारतन्त्र्यात्तदोदेति तत्स्वरूपं नरात्मकम् ॥’

इति । तदेवं पाञ्चदश्यादिक्रमेऽपि त्रिकपरमा-
र्थतैवेत्युक्तम् ‘इत्थं विश्वं त्रिकात्मकम्’
इति ॥ १८२ ॥

एतदेवान्यत्राप्यतिदिशति

एवं जलाद्यपि वदे-

द्भेदैर्भिन्नं महामतिः ।

ननु 'शिवशक्ती तावदविच्युतचिद्रूपे' इति
न कस्यचिद् विमतिः; शक्तिरेव चेच्छाज्ञानक्रि-
यात्मना प्रस्फुरन्ती प्रमातृषट्कतयावभासते
इत्युक्तं, तच्छक्तेः सर्वत्राविशेषान्मन्त्रमहेश्वरा-
न्तमपि पाञ्चदशमेव संभवेदिति त्रायोद-
श्याद्यपहाय तदेव कस्मान्न निरूपितमित्या-
शङ्क्याह

अनया तु दिशा प्रायः

सर्वभेदेषु विद्यते ॥ १८३ ॥

भेदो मन्त्रमहेशान्ते-

ष्वेष पञ्चदशात्मकः ।

तथापि स्फुटताभावा-

त्सन्नप्येष न चर्चितः ॥१८४॥

मन्त्रमहेशान्तेषु सर्वभेदेष्वित्यर्थात्प्रलयाक-

लादिषु, अतश्चोक्तं न्यायविरुद्धं त्रायोदश्या-
दीत्याशयः । सत्यमेवं किंत्वेतत्रायोदश्यादि-
वन्न स्फुटमितीह नोक्तम् ॥ १८४ ॥

नन्वधराधररूपं पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्नूपे निलीनं
सत्स्वरूपमेव जह्यादिति, तत्रास्य निरवकाशैव
पाञ्चदश्यादिशङ्केत्याशङ्क्याह

एतच्च सूत्रितं धात्रा

श्रीपूर्वे यद्भवीति हि ।

सव्यापाराधिपत्वेने-

त्यादिना जाग्रदादिताम् ॥१८५॥

अभिन्नेऽपि शिवेऽन्तःस्थ-

सूक्ष्मबोधानुसारतः ।

श्रीपूर्वशास्त्रे ह्यभिन्नेऽपि शिवे जाग्रदादि-
रूपतामभिदधता भगवतैतत्सूचितं यज्जाग्र-
दादिवत्पाञ्चदश्याद्यप्युपर्युपरि संभवेदिति ।
तथा च

‘सव्यापाराधिपत्वेन तद्धीनग्रेरकत्वतः ।

इच्छानिवृत्तेः स्वस्थत्वादभिन्नमपि पञ्चधा ॥’

(मा० वि० २।३५)

इत्यत्र शिवस्य सव्यापारत्वेन क्रियाशक्तिप्रधाना जागरा । अधिपत्वेन स्वस्वातन्त्र्यादसाधारणतत्त्वसृष्टिमयो ज्ञानशक्तिप्रधानः स्वप्नः । ज्ञानक्रियाभ्यां हीनेनौदासीन्यप्रच्यावात्मना प्रेरकत्वेनेच्छाप्रधानं सौषुप्तम् । एषणीयपूर्णतया तन्निवृत्त्याप्यानन्दशक्तिप्रधानं तुर्यम् । निरानन्दतया सर्वसर्वात्मकपरिपूर्णस्वरूपविश्रान्ते-
श्चिच्छक्तिप्रधानं तुर्यातीतमिति पञ्चावस्था-
त्मकत्वमित्यर्थः । 'अन्तःस्थसूक्ष्मबोधानुसारत'
इति प्रमात्रेकरूपसूक्ष्मबोधाश्रयेणेत्यर्थः ।
बोधस्य हि बोधरूपतयान्तः सर्वं संभवेदिति
भावः ॥ १८५ ॥

इह

'अध्वा समस्त एवायं षड्विधोऽप्यतिविस्तृतः ।

यो वक्ष्यते स एकत्र प्राणे तावत्प्रतिष्ठितः ॥'

(तं० ६।५)

इत्याद्युक्त्या बहिरिवान्तरपि प्राणे तत्त्वाध्वा-
स्तीति तद्गतत्वेनापि पाञ्चदश्याद्यभिधातुमु-
पक्रमते

अधुना प्राणशक्तिस्थे

तत्त्वजाले विविच्यते ॥ १८६ ॥

भेदोऽयं पाञ्चदश्यादि-

र्यथा श्रीशंभुरादिशत् ।

श्रीशंभुरादिशदित्यनेन गुरुपरम्परागतत्वा-
द्विगीतप्रसिद्धिनिबन्धनत्वमस्य ध्वनितम् १८६

तदेवाह

समस्तेऽर्थेऽत्र निर्ग्राह्ये

तुटयः षोडश क्षणाः ॥ १८७ ॥

षट्त्रिंशदङ्गुले चारे

सांशद्व्यङ्गुलकल्पिताः ।

समस्तेऽर्थे निर्ग्राह्ये इति तत्त्वभावभुवना-
द्यात्मनि वेद्यवस्तुनीत्यर्थः । क्षणशब्दश्चात्र

मानुषाक्षिनिमेषस्याष्टमोऽंशः क्षणः स्मृतः । (स्व० ११।१९९)
इति लक्षितक्षणद्वयात्मनि कालविशेषे वर्तते ।

यदुक्तम्

क्षणद्वयं तुटिर्ज्ञेया । (स्व० ११।१९९)

इति । सांशेति सचतुर्भागेत्यर्थः । यदुक्तम्

‘तुष्टिः सपादाङ्गुलयुक्प्राणः…………’ (तं०६।६४)
इति ॥ १८७ ॥

एतदेव विभजति

तत्राद्यः परमाद्वैतो

निर्विभागरसात्मकः ॥ १८८ ॥

द्वितीयो ग्राहकोल्लास-

रूपः प्रतिविभाव्यते ।

अन्त्यस्तु ग्राह्यतादात्म्या-

त्स्वरूपीभावमागतः ॥ १८९ ॥

प्रविभाव्यो न हि पृथ-

गुपान्त्यो ग्राहकः क्षणः ।

आद्य इति तुद्व्यात्मा कालक्षणः । निर्वि-
भागेति, यदुक्तम्

‘…………शिवः साक्षान्न भिद्यते ।’ (मा०वि०२।७)
इति । ग्राहकोल्लासरूप इति शक्तेरेव हि
षण्णां प्रमातृणामुल्लासः इत्युक्तप्रायम् ।
अन्त्य इति षोडशस्तुद्व्यात्मा कालक्षणः ।
ग्राह्यतादात्म्यादिति यथायथं ग्राह्यत्वस्यैवो-

द्वेकात् । ननु शिवशक्तित्वेन स्वरूपत्वेन च तुटित्रयमत्र विनियुक्तमित्यवशिष्टवक्ष्यमाण-
प्रमातृतच्छक्तिद्वादशकापेक्षया एका तुटिरधि-
कीभवेत्, तत्किमसौ स्वरूपेऽन्तर्भवति उत
प्रमातृपक्षे निक्षिप्यते ? इत्याशङ्क्य चरमव्या-
ख्येयमपि अवशिष्टमुपान्त्यक्षणमन्त्यक्षणप्रस-
ङ्गागतमनागतावेक्षणन्यायेन प्रागेव निर्णयति
प्रविभाव्यो न हीति । पृथगित्यर्थादन्त्यात्क्ष-
णात् । उपान्त्य इति अन्त्यसमीपस्थः पञ्चद-
शस्तुव्यात्मा क्षणस्तत्र ह्यन्तरोच्छूनतामासा-
द्यान्ते ग्राह्यतैव साक्षादुल्लसेदित्याशयः ॥१८९॥

एवमवशिष्टं तुटिद्वादशकं मन्त्रमहेश्वरत-
च्छक्त्यादिरूपतया विभजति

तृतीयं क्षणमारभ्य

क्षणषट्कं तु यत्स्थितम् ॥१९०॥

तन्निर्विकल्पं प्रोद्गच्छ-

द्विकल्पाच्छादनात्मकम् ।

तृतीयमिति प्रथमद्वितीयापेक्षया । क्षण-
षट्कमिति शक्तिमच्छक्तिरूपम् ॥ १९० ॥

ननु कथमत्रोद्गच्छतां विकल्पानामाच्छा-
दनं स्यादित्याशङ्क्याह

तदेव शिवरूपं हि

परशक्त्यात्मकं विदुः ॥ १९१ ॥

तद्धि क्षणषट्कं शुद्धविद्यामयत्वात् शक्तिम-
च्छक्त्यपेक्षया क्रमेण शिवरूपमेव परशक्त्या-
त्मकमेव चेत्याम्नायः ॥ १९१ ॥

एवमेकं क्षणषट्कं व्याख्याय, परमप्याचष्टे

द्वितीयं मध्यमं षट्कं

परापरपदात्मकम् ।

विकल्परूढिरूपेषा

क्रमात्प्रस्फुटतां गता ॥ १९२ ॥

मध्यममिति प्रथमषट्कोपान्त्यान्तरालवर्ति-
त्वात्, अत एव प्रथमषट्कस्य परत्वादन्यो-
पान्त्यात्मनः स्वरूपस्य चापरत्वात्परापरपदा-
त्मकत्वमित्युक्तम् । विकल्परूढिरिति माथीय-

१ ख० पु० एकं षट्कमिति पाठः । २ ख० ग० पु० अत्रैषेति पाठः ।
३ ख० पु० प्रकटतामिति पाठः ।

त्वात् । क्रमादिति यथायथमिदन्ताया उद्रे-
कात् ॥ १९२ ॥

ननु शिवस्याभिन्नरूपत्वात्तत्र तत्र विभागे
शक्तिरेव बीजं, तस्याश्चेच्छाज्ञानक्रियात्मना
त्रिधैव प्रसर इति षट्कनिरूपणे कोऽवसरः,—
इत्याशङ्क्याह

षट्केऽत्र प्रथमे देव्य-

स्तिस्त्रः प्रोन्मेषवृत्तिताम् ।

निमेषवृत्तितां चाशु

स्पृशन्त्यः षट्कतां गताः ॥१९३॥

प्रोन्मेषवृत्तितामित्यनेन च शक्तिरूपत्वं,
निमेषवृत्तितामित्यनेन च शक्तिमद्रूपत्वम् १९३

एतदेवान्यत्र योजयति

एवं द्वितीयषट्केऽपि

किं त्वत्र ग्राह्यवर्त्मना ।

उपरागपदं प्राप्य

परापरतया स्थिताः ॥ १९४ ॥

आद्येऽत्र षट्के ता देव्यः

स्वातन्त्र्योल्लासमात्रतः ।

जिघृक्षितेऽप्युपाधौ स्युः

पररूपादविच्युताः ॥ १९५ ॥

ननु षट्कद्वयेऽपि यद्येवमुन्मेषनिमेषवृत्त्या
तिस्र एव देव्यः स्थितास्तर्ह्येकमेव षट्कमस्तु
को द्वितीयार्थ इत्याशङ्क्याह किं त्वित्यादि १९५

ननु यदीच्छा ज्ञानं क्रिया चेति पृथगेतानि
पदानि, तदिच्छाहितो ज्ञाने तदुभयाहितश्च
क्रियायामतिशयो नास्तीति

‘अधराधरतन्त्रेषु स्थिता पूर्वस्थितिर्यतः ।

अन्यथा स्थितिरेवैषां न भवेत्पूर्वहानितः ॥’

इत्याद्युक्तं विहन्येतेत्याशङ्क्याह

अस्ति चातिशयः कश्चि-

त्तासामप्युत्तरोत्तरम् ।

यो विवेकधनैर्धीरैः

स्फुटीकृत्यापि दर्श्यते ॥ १९६ ॥

अत्रैव द्विधा मतान्तरं दर्शयति

केचित्त्वेकां तुटिं ग्राह्ये

चैकामपि ग्रहीतरि ।

तादात्म्येन विनिक्षिप्य

सप्तकं सप्तकं विदुः ॥ १९७ ॥

तत्र केचिदेकां पञ्चदशीमुपान्त्यां तुटिम-
न्यतुव्यात्मनि ग्राह्ये स्वरूपे तादात्म्येन विनि-
क्षिप्यास्सदुक्तवदन्त्योपान्त्यतुटिद्वयैकीकारेण
स्वरूपमभिधाय, परिशिष्टतुटिचतुर्दशकाद्यं तु-
टिसप्तकं प्रमातृसप्तकत्वेनान्यत्तच्छक्तिसप्तक-
त्वेनाभिद्धुरित्येकीयमतम् । अपिशब्दात्केचि-
दित्यस्य समुच्चयः । तेन केचिच्चैकां तुटिं
ग्रहीतृपक्षे विनिक्षिप्यार्थादन्त्यां स्वरूपत्वेन
निरूप्य तथैवान्यच्चतुर्दशकमित्यन्यदीयम-
तम् ॥ १९७ ॥

ननु यद्येवं तर्हि कतरदुपपन्नमित्याशङ्क्याह

तदस्यां सूक्ष्मसंविता

कलनाय समुद्यताः ।

संवेद्यन्ते यद्रूपं

तत्र किं वाग्विकर्तृनैः ॥१९८॥

तदेवमेवानुभवभाजां योगिनां यदेव स्व-
संवेदनेन सिद्ध्यति तदेव प्रमाणं नेतरदिति ।
तत्र किमस्मदीयैः परकीयैर्वा प्रलापप्रार्थैरनु-
भवशून्यैर्वाग्व्यापारैः । अनेन च प्रागुक्तस्य
स्वपक्षस्यैव स्वसंवेदनसिद्धत्वमस्तीत्यावेदितम् ।
यदेकस्यैव प्रमातुरक्षुब्धतया क्षुब्धतया च
शक्तिमच्छक्तिरूपत्वमिति संनिकर्षेणैव तद-
भिधानं न्याय्यं न पृथक्त्वेन स्वरूपस्य चोपान्त्य-
तुटाबुच्छूनतासाध(द)नपुरःसरमन्त्यतुटौ पूर्ण-
तयैव प्ररोहो न्याय्य इति । अलं बहुना ॥१९८॥

एतदेवोपसंहरति

एवं धरादिमूलान्तं

प्रक्रिया प्राणगामिनी ।

गुरुपर्वक्रमात्प्रोक्ता

भेदे पञ्चदशात्मके ॥१९९॥

गुरुपर्वक्रमादित्यनेन प्रसिद्धिनिबन्धनत्वमे-
वास्य निर्वाहितम् ॥ १९९ ॥

एवं पाञ्चदश्यामुपदिश्य, त्रायोदश्याद्यप्यु-
पदिशति

क्रमात्तु भेदन्यूनत्वे

न्यूनता स्यात्तुटिष्वपि ।

भेदन्यूनत्व इति, त्रायोदश्याैकादश्याद्या-
त्मनि, न्यूनतेति स्वरूपपक्षनिक्षेपात् । यथा
यथा हि सकलतच्छक्त्यादिरूपं भेदद्वयं न्यू-
नतामियात् तथा तथा तुटिद्वयमप्येवं स्यात् ।
यद्वक्ष्यति

‘एवं द्वयं द्वयं यावन्न्यूनीभवति भेदगम् ।

तावत्तुटिद्वयं याति न्यूनतां क्रमशः स्फुटम् ॥’

(१०१९८)

इति तत्तुटीनां द्वयस्य द्वयस्य स्वरूपपक्षे
निक्षेपात् । प्रमातृत्वेनास्थारैथिल्यं नाम न्यू-
नत्वं न तु स्वरूपविप्रलोप एव, षट्त्रिंशद्भुला-
त्मनि प्राणचारे तावत्तुटिसंख्याकत्वस्यानप-
हानेः, अत एवात्र सकलादेर्विकल्पप्रमातुर्वि-

लयादुपर्युपरि क्रमेणाविकल्पप्रमातृणामुदयो
यथायथं संविद एवोद्रेकात् ॥

तदाह

तस्यां ह्यासो विकल्पस्य

स्फुटता चाविकल्पिनः ॥२००॥

तस्यामिति प्रमातृभेदन्यूनतायाम् ॥२००॥

नन्वेवमत्र पाञ्चदशक्रमवदेव षोडश तु-
टयो व्यवस्थिता इति कथमासां सकलादि-
रूपतयास्थाशैथिल्यं भवेद्येनाविकल्पस्य स्फु-
टत्वं विकल्पस्य च ह्यासः,—इत्याशङ्क्याह

यथा हि चिरदुःखार्तः

पश्चादात्तसुखस्थितिः ।

विस्मरत्येव तद्दुःखं

सुखविश्रान्तिवर्त्मना ॥ २०१ ॥

तथा गतविकल्पेऽपि

रूढाः संवेदने जनाः ।

विकल्पविश्रान्तिबला-

त्तां सत्तां नाभिमन्वते ॥ २०२ ॥

तद्दुःखमिति प्राक्चिरमनुभूतम् । विकल्प-
विश्रान्तीति तद्विरामः । तां सत्तामिति वैक-
ल्पिकीम् । यथा दुःखस्य प्रागनुभूतत्वात्प्र-
रूढापि तद्वासना सुखविश्रान्तिबलेन प्रबोधा-
भावादस्थितकल्पा, तथा निर्विकल्पदशाधि-
शायिनां जनानां क्षीणविकल्पत्वात् तत्क्षो-
भेऽपि वैकल्पिकी सत्ता नोदियात्, तथात्वे
हि तेषां निर्विकल्पकसंवित्साक्षात्कारो भवेद्ये-
नायं संसारदोषः प्रशाम्येत् ॥ २०२ ॥

अतोऽत्रैवावधातव्यमित्याह

विकल्पनिर्हासवशेन याति

विकल्पवन्ध्या परमार्थसत्या ।

संवित्स्वरूपप्रकटत्वमित्थं

तत्रावधाने यततां सुबुद्धिः २०३

न चैतदस्मदुपज्ञमेवेत्याह

ग्राह्यग्राहकसंवित्तौ

संबन्धे सावधानता ।

इयं सा तत्र तत्रोक्ता

सर्वकामदुघा यतः ॥ २०४ ॥

तत्र तत्र श्रीविज्ञानभैरवादौ । यदुक्तम्

‘ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम् ।

योगिनां तु विशेषोऽयं संबन्धे सावधानता ॥’

(वि० भै० १०६ श्लो०)

इति । मायापदनिरूढिभाजां ग्राह्यग्राहकक्षोभ
एव विश्रान्तिरिदं ग्राह्यमयं ग्राहक इति ।
निर्विकल्पकदशाधिशायिनां पुनस्तत्क्षोभाव-
सरेऽपि ग्राह्यग्राहकयोर्द्यत उद्यो यत्र वा
विश्रान्तिस्तत्रैवावहितत्वं येन सर्वेऽपि सतफल-
संपत्तिः ॥ २०४ ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवाह

एवं द्वयं द्वयं याव-

न्यूनीभवति भेदगम् ।

तावत्तुटिद्वयं याति

न्यूनतां क्रमशः स्फुटम् ॥२०५

एवं च शक्तिमच्छक्तिसंबन्धिनीनां द्वाद-

शानां तुटीनामन्त्योपान्त्यात्मतुटिद्वयलक्षण-
स्वरूपपक्षनिक्षेपाच्छिवे तुटिद्वयमेवावशि-
ष्यते,—इत्याह

अत एव शिवावेशे^१

द्वितुटिः परिगीयते ।

नन्वखण्डपरिपूर्णसंविदेकरसो निर्विभा-
गात्मा शिवः इति कस्तत्र द्वयार्थः,—इत्या-
शङ्क्य, तुटिद्वयमेव शक्तिमच्छक्तिरूपतया
विभजति

एका तु सा तुटिस्तत्र

पूर्णा शुद्धैव केवलम् ॥ २०६ ॥

द्वितीया शिव(शक्ति)रूपैव

सर्वज्ञानक्रियात्मिका ।

पूर्णत्वादेव च शुद्धा क्षोभरहितेत्यर्थः ।
क्षोभो हि शक्तिदशा । यदुक्तं 'शिव(शक्ति)-
रूपैव सर्वज्ञानक्रियात्मिका' इति ॥ २०६ ॥

अत एवात्रावहितस्य सर्वविषयज्ञत्वकर्तृ-
त्वादि भवेदित्याह

तस्यामवहितो योगी

किं न वेत्ति करोति वा ॥२०७

न चात्र विगीतत्वमस्तीत्याह

तथा चोक्तं कल्लटेन

श्रीमता तुटिपातर्गः ।

लाभः सर्वज्ञकर्तृत्वे

तुटेः पातोऽपरा तुटिः ॥२०८॥

यत्तत्त्वार्थचिन्तामणिः

‘तुटिपाते सर्वज्ञतादयः ।’

इति । एतदेव व्याचष्टे ‘तुटेः पातोऽपरा
तुटिः’ इति । आद्यायास्तुटेः पातोऽपचयो
हासो द्वितीया तुटिरिति यावत् ॥ २०८ ॥

ननु द्वितीयस्यां तुटाववहितस्य कस्मा-
त्सर्वज्ञत्वदिलाभः, प्रथमायामेव तथात्वमस्तु
इत्याशङ्क्याह

आद्यायां तु तुटौ सर्वं
सर्वतः पूर्णमेकताम् ।

गतं किं तत्र वेद्यं वा
कार्यं वा व्यपदेशभाक् ॥२०९॥

वेद्यं कार्यमिति यथाक्रमं ज्ञानक्रियापेक्ष-
योक्तम् ॥ २०९ ॥

एवं द्वितीयैव तुटिः सर्वज्ञत्वादिसिद्धि-
निमित्तमित्याह

अतो भेदसमुल्लास-

कलां प्राथमिकीं बुधाः ।

चिन्वन्ति प्रतिभां देवीं

सर्वज्ञत्वादिसिद्धये ॥ २१० ॥

सैव शक्तिः शिवस्योक्ता

तृतीयादितुटिष्वथ ।

मन्त्रादि(धि)नाथतच्छक्ति-

मन्त्रेशाद्याः क्रमोदिताः ॥२११॥

भेदसमुल्लासांशापेक्षयोक्तं प्राथमिकीमिति ।
 अत्रैव हि प्रथममासूत्रितप्रायो भेद इति
 भावः । अत एव नवनवोल्लेखशालित्वात्प्रति-
 भामित्युक्तम् । सैवेति द्वितीयरूपाद्या प्रति-
 भा । ननु द्वितीयस्यां तुटौ शैवी शक्तिरुक्ता,
 तृतीयादिषु पुनः किमित्याशङ्क्याह तृतीये-
 त्यादि ॥ २११ ॥

ननु यद्वद्वितीयस्यां तुटाववहितस्य सर्वज्ञ-
 त्वादिरूपा सिद्धिरुक्ता तद्वदास्वपि तुटिषु किं
 काचित्सिद्धिः स्यान्नवेत्याशङ्क्याह

तासु संदधतश्चित्त-
 मवधानैकधर्मकम् ।

तत्तत्सिद्धिसमावेशः

स्वयमेवोपजायते ॥ २१२ ॥

तत्तत्सिद्धीति, तास्ताः सिद्धयः श्रीपूर्व-
 शास्त्रादौ धारणापटलाद्युक्ता देहगुरुत्वा-
 दयः ॥ २१२ ॥

ननु शिवशक्तिरेव सर्वत्र सर्वेण रूपेण

प्रस्फुरतीति तस्याः सर्वत्राविशेषादत्रापि सर्व-
ज्ञत्वादिरूपैव सिद्धिः कस्मान्नोदियादित्या-
शङ्क्याह

अत एव यथा भेद-

बहुत्वं दूरता तथा ।

संवित्तौ तुटिबाहुल्या-

दक्षार्थासंनिकर्षवत् ॥ २१३ ॥

अत इति मन्त्रादि(धि)नाथादीनां क्रमेणो-
दयाद्धेतोः । एतदेव दृष्टान्तद्वारेण हृदयङ्ग-
मयति अक्षार्थासंनिकर्षवदिति । यथान्त-
रालिकव्यवधायकार्थान्तरभूयस्त्वादक्षाणामर्थे
संनिकर्षाभावस्तथा योगिनामपि भेदबहुत्व-
निमित्तस्य तुटिबाहुल्यस्य व्यवधायकत्वात्सं-
वित्ताविति ॥ २१३ ॥

एतदेव व्यतिरेचयति

यथा यथा हि न्यूनत्वं

तुटीनां हासतो भिदः ।

तथा तथातिनैकव्यं

संविदः स्याच्छिवावधि ॥२१४॥

शिवतत्त्वमतः प्रोक्त-

मन्तिकं सर्वतोऽमुतः ।

अत इति भेदहासनिमित्तकसंविन्नैकव्यात्
अन्तिकं प्रोक्तमिति विशेषानुपादानात्सर्वत्र ।
यदुक्तम्

‘.....न सावस्था न या शिवः ।’ (स्प० २९ का०)

इति । अतश्च सर्वस्य शिवमयत्वात्तदावेशे
महात्मनामुपायादिढौकनात्मा न कश्चिद्यत्नः
संभवेत्, विप्रकृष्टमेवासादयितुं हि यत्नयोगः
स्यात् ॥ २१४ ॥

तदाह

अत एव प्रयत्नोऽयं

तत्प्रवेशे न विद्यते ॥ २१५ ॥

यथा यथा हि दूरत्वं

यत्नयोगस्तथा तथा ।

अत एव भावनाद्यात्मनामुपायानामवकाश
एव शिवे नास्तीत्यस्मद्गुरवः ॥ २१५ ॥

तदाह

भावनाकरणादीनां

शिवे निरवकाशताम् ॥ २१६ ॥

अत एव हि मन्यन्ते

संप्रदायधना जनाः ।

भावनादि हि भाव्यमानादिनिष्ठं, न
चास्य भाव्यमानादित्वं न्याय्यं प्रमात्रेकरूप-
त्वान्भावनादिविषयत्वानुपपत्तेः । तदाहुः

‘करणेन नास्ति कृत्यं कापि भावनयापि वा ।’

(शि० दृ० आ० ७।६ श्लो०)

इति ॥ २१६ ॥

ननु विप्रकृष्ट एव कस्माद्यत्नयोगः स्यान्न
संनिकृष्टे—, इत्याशङ्कां दृष्टान्तोपदर्शनेन
शमयति

तथा हि दृश्यतां लोको

घटादेर्वेदने यथा ॥ २१७ ॥

प्रयत्नवानिवाभाति

तथा किं सुखवेदने ।

प्रयत्नवानिवेति जिज्ञासादिपरत्वात् ॥२१७॥

नन्वेवं सुखादिवदान्तरत्वमात्रमस्य सिद्धे-
द्येन सुखोपायत्वं स्यान्न तु परप्रमात्रेकरूपता-
प्रयुक्तं भावनाद्यविषयत्वमित्याशङ्क्याह

आन्तरत्वमिदं प्राहुः

संविन्नैकव्यशालिताम् ॥२१८॥

तां च चिद्रूपतोन्मेषं

बाह्यत्वं तन्निमेषताम् ।

इदं हि नामान्तरत्वमुच्यते यद्दूरविप्रक-
र्षेण संविदः परिस्फुरणमित्युक्तमान्तरत्वं
संविन्नैकव्यशालितां प्राहुरिति । नन्वेवमप्यस्य
तदवस्थमेव सुखादिसाम्यमित्याशङ्क्याह तां
च चिद्रूपतोन्मेषं प्राहुरिति । इदं हि नामात्र
संविन्नैकव्यशालित्वं विवक्षितं यच्चिद्रूपतायाः
प्राधान्यमिति । अत एव चिद्रूपनिमज्जनमेव

बाह्यत्वमित्युक्तम् 'बाह्यत्वं तन्निमेषताम्'
इति ।

'ततो भेदो हि बाह्यता ।' (ई० प्र० ८६ का०)

इत्याद्युक्त्या सुखादीनामप्यन्तःकरणैकवेद्य-
त्वेऽपि पृथक्प्रथत्वाख्यमुख्यबाह्यतालक्षणयो-
गाद्बाह्यत्वमेवेत्युक्तमन्यत्र बहुशः ॥ २१८ ॥

ननु यद्येवं शिवस्य चिद्रूपताप्राधान्यमे-
वान्तरत्वं तच्चितः स्वप्रकाशत्वात्सर्वत एव
प्रकाशमानत्वं स्यादिति सर्वेषामेवान्तिकत-
मत्वात्सर्वदैव कस्मान्न भायादित्याशङ्क्याह

भविनां त्वन्तिकोऽप्येवं

न भातीत्यतिदूरता ॥ २१९ ॥

एवमित्युक्तगत्या । भवित्वादेव हि नैषां
तथा परामर्शोऽस्ति येनायं सर्वतो न भाया-
दिति भावः । अत एवैषां तथापरामर्शयोगा-
दूर एव संविद्वभासो येनायमियान्संसार-
डम्बरः । यदुक्तम्

‘स्वापरामर्शमात्रं यदपराधः कियानसौ ।
तावन्मात्रेण तज्जातं यद्वक्तुं नैव पार्यते ॥’

इति ॥ २१९ ॥

नन्विह देशकालस्वभावविप्रकर्षाच्चिधैव
दूरत्वमुच्यते, संविदि पुनरेतन्न संभवति,—
इति कथमेतदुक्तमित्याशङ्क्याह

दूरेऽपि ह्यन्तिकीभूते

भानं स्यात्त्वत्र तत्कथम् ।

देशतो हि दूरेऽपि वस्तुनि प्रयत्नवशान्नि-
कटतामुपेयुषि भानमर्थान्नैकव्येन भवेत्,
संविदि पुनर्विदूरत्वमशक्यक्रियमपसर्पणादेर-
भावात् ॥

एवं संविदि देशतो विप्रकर्षं निरस्य, काल-
तोऽपि निरस्यति

न च बीजाङ्कुरलता-

दलपुष्पफलादिवत् ॥ २२० ॥

क्रमिकेयं भवेत्संवि-

त्सूतस्तत्र किलाङ्कुरः ।

बीजालता त्वङ्कुरान्नो

बीजादिह तु सर्वतः ॥ २२१ ॥

संवित्तत्त्वं भासमानं

परिपूर्णं हि सर्वतः ।

11354

ऋमिकेयं न भवेदिति अकालकलित-
त्वात् । बीजादीनामेव ऋमिकत्वं निरूपयति
'सूत'इत्यादिना । लताया अपि हि बीजादु-
त्पत्तावङ्कुरलतयोः ऋमिकत्वं न भवेदिति
भावः । एवं दलादेरपि लतादेरेवोत्पत्ति-
र्नाङ्कुरादेरित्यवसेयं येनैषां ऋमिकत्वमेव
स्यात् । संवित्पुनर्देशकालानवच्छेदात् सर्वत्र
सर्वदैवावभासते यतोऽस्याः सर्वतः पारिपूर्ण्यं
तदाह इहेत्यादि ॥ २२१ ॥

ननु च कारणदशायां कार्यस्य प्राग-
भावाद्नागतत्वमिह च संविदः कादाचित्क-
त्वेन कार्यत्वात्तथाभावोपपत्तेरागतः काल-
विप्रकर्षः, इति कथमुक्तं ऋमिकेयं संविन्न
भवेदित्याशङ्क्याह

सर्वस्य कारणं प्रोक्तं

सर्वत्रैवोदितं यतः ॥ २२२ ॥

संविदो हि कार्यत्वे किं संविदेव कारण-
मुतान्यत्किञ्चिज्जडम् । तत्र जडस्य तावत्कार-
णत्वं न युज्यते,—इत्युपपादितं प्राग्बहुशः ।
संविदश्च संविदन्तराद्भेदानुपपत्तेरेकैवाखण्डा
संविदिति किं कस्य कारणं कार्यं वेति । संवि-
त्तत्त्वमेव सर्वस्य कारणं यत्तत्स्वातन्त्र्यविजृम्भा-
मात्रमेव विश्वमिदम्, अत एवोक्तं सर्वत्रै-
वोदितमिति । सर्वत्रैवोदितत्वाच्चास्थानेनैव
स्वभावविप्रकर्षोऽपि निरस्तः ॥ २२२ ॥

ननु प्रमातृरूपा संवित्सर्वस्य कारणमस्तु
प्रतिनियतघटादिप्रमेयप्रमिति रूपा तु सा कथं
तथात्वमश्रुवीत,—इत्याशङ्क्याह

तत एव घटेऽप्येषा

प्राणवृत्तिर्यदि स्फुरेत् ।

विश्राम्येच्चाशु तत्रैव

शिवबीजे लयं व्रजेत् ॥ २२३ ॥

ततः सार्वत्रिकोदयप्रयुक्तसर्वकारणभावा-
 च्छेतोरेषा पाञ्चदश्याद्यात्मना निरूपिता प्राण-
 वृत्तिर्यदि घटेऽपि स्फुरेद्विश्राम्येच्च नैयत्येनापि
 उदयं लयं च लभेत, तथापि तत्र समनन्त-
 रोक्तसतत्त्वे शिवबीज एव लयं व्रजेत्सर्वतः
 परिपूर्णप्रकाशविमर्शमय्येव चकास्यादित्यर्थः ।
 आश्रित्यनेनान्तरालिकतुटिक्रमोपनतशक्तिम-
 च्छक्तिक्रमभेदस्य प्रकाशमात्रसारतया न किं-
 चित्तत्त्वमित्युक्तम् ॥ २२३ ॥

अत एवाह

न तु क्रमिकता काचि-
 च्छिवात्मत्वे कदाचन ।

ननु मन्त्र-तदीश-तन्महेशादिपरम्परया शि-
 वात्मत्वेन विश्रान्तिरुदिता, अतात्त्विकोऽप्ययं
 क्रमो नासन्नेव शिवेच्छया तथावभासनात्,
 तच्छिव एव सर्वस्य कारणम्,—इति परम-
 कारणताभिप्रायेण भवतु, मन्त्रादि(धि)नाथादि

पुनरवान्तरकारणं कथंकारं पराकरणीयमित्या-
शङ्क्याह

अन्यन्मन्त्रादि(धि)नाथादि

कारणं तत्तु संनिधेः ॥ २२४ ॥

शिवाभेदाच्च किं चाथ

द्वैते नैकद्वयवेदनात् ।

यथा किल मृदेकैव सती शिबिकस्तूपक-
पिण्डाद्यवस्थाक्रमेण घटस्य कारणम्,—इति
नेयता पिण्डाद्येव कारणमिति युक्तं कार्या-
त्मनि तथानुवृत्त्यभावात्, तत्तदवस्था तु
दण्डादिवत्करणमिति युज्यते वक्तुम् । इदमेव
हि कारणं यत्कार्यनिर्वर्तनाय व्याप्रियमाणमपि
न कारणं व्यवदध्यात् । एवमिह परिपूर्ण-
संविन्मयः शिव एव निजेच्छावभासितमन्त्रा-
धिनाथाद्यवस्थाक्रमेण जगतः कारणं, नैता-
वता मन्त्राधिनाथाद्यवस्थैव कारणं, कर्तृ-
प्रयोज्यतया कारणं तु भवेदेव, न हि तज्ज-
गदवभासने व्याप्रियते, न च तथाभावेऽपि

पूर्णचिदात्मनः शिवस्य कारणतां व्यवधत्ते,—
इतीच्छादिशक्तिवन्मन्त्राधिनाथादेः कारणत्व-
मेव न्याय्यमित्युक्तं मन्त्राधिनाथाद्यन्यत्करण-
मित्यर्थः । यत्तु

‘शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः ।’

इत्यादिना मन्त्राधिनाथादेः कारणत्वमुच्यते
तद्वैयपदेशिकमित्याह कारणमित्यादि । त-
दिति मन्त्राधिनाथादि । संनिधेरिति घटो-
त्पत्ताविव दिक्कालाकाशादीनाम् । शिवाभेदा-
दिति, शिवस्तावत्कारणमित्युक्तं तदभेदा-
न्मन्त्राधिनाथाद्यपि तथोच्यते घटकारणमृद्-
भिन्नरूपादिवत्, द्वैते नैकव्यवेदनादिति भेद-
दशायामेषां यथायथं मायाप्रमात्रपेक्षया सं-
निकर्षाद्राजाज्ञया नियुक्तवधकवत् ॥ २२४ ॥

एतदेव च परमुपादेयमित्यत्रैव निरूढिः
कार्या,—इत्याह

अनया च दिशा सर्वं

सर्वदा प्रविवेचयन् ॥ २२५ ॥

भैरवायत एव द्राक्
चिच्चक्रेश्वरतां गतः ।

प्रकृतमेवोपसंहरति

स इत्थं प्राणगो भेदः

खेचरीचक्रगोपितः ॥ २२६ ॥

मया प्रकटितः श्रीम-

च्छाम्भवाज्ञानुवर्तिना ।

इदानीं तत्त्वविध्यनुषक्ततयानुजोदेशोद्दिष्टं
जाग्रदादि निरूपयति

अत्रैवाध्वनि वेद्यत्वं

प्राप्ते या संविदुद्भवेत् ॥ २२७ ॥

तस्याः स्वकं यद्वैचित्र्यं

तदवस्थापदाभिधम् ।

अत्र पाञ्चदश्यादिक्रमात्मतया निरूपिते
तत्त्वाध्वनि स्वरूपत्वेन प्रमेयतामापन्ने यैव
शिवाद्यैकैकप्रमातृरूपा संविदुल्लसेदेवंविधाया-
स्तस्याः स्वकं स्वेच्छावभासिततत्तत्प्रमेयोपहितं
तत्तत्साधारण्यासाधारण्यादिप्रयुक्तं यद्वैचित्र्यं

तज्जाग्रदाद्यवस्थाशब्दव्यपदेश्यं स्यादिति वा-
क्यार्थः ॥ २२७ ॥

अवस्थापदान्येव विभजति

जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च

तुर्यं च तदतीतकम् ॥ २२८ ॥

इति पञ्च पदान्याहु-

रेकस्मिन्वेदके सति ।

तदतीतकमिति तुर्यातीतकम् । एकस्मि-
न्वेदके सतीति, अनेकस्मिन्वेदके ह्यन्यस्य
जाग्रदन्यस्य स्वप्नः,—इत्यवस्थानामवस्थात्वं
पञ्चात्मकत्वं च न स्यात्, एकमेव ह्यव-
स्थातारमधिकृत्यासां तथाभावो भवेदिति
भावः ॥ २२८ ॥

ननु यद्येवं, तत्तुर्यातीतरूपस्याप्येकस्य शि-
वस्य जाग्रदाद्यवस्थाः प्रसज्येरन्नित्याशङ्क्य
तदेवाभ्युपगच्छति

तत्र यैषा धरातत्त्वा-

च्छिवान्तां तत्त्वपद्धतिः ॥२२९॥

तस्यामेकः प्रमाता चेद-

वश्यं जाग्रदादिकम् ।

तद्दर्श्यते शंभुनाथ-

प्रसादाद्विदितं मया ॥ २३० ॥

‘एक’ इति सकलः शिवो वा । अवश्यमित्यनेनान्यथा पुनरेतन्न स्यादिति सूचितम् । एतच्च नास्माभिः स्वोपज्ञमेवोच्यते,—इत्याह ‘तद्दर्श्यते’ इत्यादि ॥ २३० ॥

तदेवाह

यदधिष्ठेयमेवेह

नाधिष्ठातृ कदाचन ।

संवेदनगतं वेद्यं

तज्जाग्रत्समुदाहृतम् ॥ २३१ ॥

एवकारार्थमेव स्फुटयति ‘नाधिष्ठातृ कदाचन’ इति । संवेदनगतमिति, अन्यथा ह्यस्य वेद्यत्वमेव न भवेदिति भावः । न हि स्वात्मनि वेद्यमवेद्यं वेत्युक्तं बहुशः ॥ २३१ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति

चैत्रमैत्रादिभूतानि

तत्त्वानि च धरादितः ।

अभिधाकरणीभूताः

शब्दाः किं चाभिधा प्रमा २३२

प्रमातृमेयतन्मान-

प्रमारूपं चतुष्टयम् ।

विश्वमेतदधिष्ठेयं

यदा जाग्रत्तदा स्मृतम् ॥२३३॥

भूतानीति, चतुर्दशविधभूतसर्गान्तःपातित्वात् तेन स्थावरवर्जं पैशाचादि मानुषान्तं सर्वमनेन संगृहीतम् । शब्दा इति धरादितत्त्वान्तःपातित्वात्प्रमेयत्वेऽपि परप्रत्ययकारित्वाद्देशां प्रमाणत्वमित्युक्तम् 'अभिधाकरणीभूताः' इति । अभिधेत्यर्थप्रतीतित्वात्फलरूपेत्यर्थः । एवमेतन्मातृमेयमानप्रमात्मकं चतुष्टयमधिष्ठेयरूपमेव यदा भवेत्तदा जाग्रत्स्मृतं जाग्रदवस्थेयमित्यर्थः ॥ २३२ ॥

अधिष्ठात्रधिष्ठेयभावमेव विभज्य दर्शयति

तथा हि भासते यत्त-

नीलमन्तः प्रवेदने ।

संकल्परूपे^१ बाह्यस्य

तदधिष्ठातृ बोधकम् ॥ २३४ ॥

यत्तु बाह्यतया नीलं

चकास्त्यस्य न विद्यते^२ ।

कथंचिदप्यधिष्ठातृ-

भावस्तज्जाग्रदुच्यते ॥ २३५ ॥

यत्किंचन नीलादि संकल्पाद्यात्मनि ज्ञाने-
 ऽन्तस्तादात्म्येन भासते तदधिष्ठातृ यतो
 बाह्यस्य बोध्यस्य नीलादेस्तद्बोधकमवभासक-
 मित्यर्थः । अतश्च बोध्यत्वादेव बाह्यं नीलं
 कथंचिदप्यधिष्ठातृभावमधिगन्तुं नोत्सहते,—
 इत्यधिष्ठेयैकरूपत्वाज्जाग्रद्दशात्मकत्वेनैव सर्वत्रो-
 च्यते,—इति युक्तमुक्तं यदधिष्ठेयं तज्जाग्र-
 दिति ॥ २३५ ॥

नन्वस्य चतुष्टयस्य समानेऽप्यधिष्ठेयत्वे
किमन्योन्यं कश्चिद्विशेषः संभवेन्न वेत्या-
शङ्क्याह

तत्र चैत्रे भासमाने

यो देहांशः स कथ्यते ।

अबुद्धो यस्तु मानांशः

स बुद्धो मितिकारकः ॥ २३६ ॥

प्रबुद्धः सुप्रबुद्धश्च

प्रमामात्रेति^१ च क्रमः ।

‘देहांश’ इति देहस्य भौतिकत्वात्प्रमेयरूप
इत्यर्थः । तत्प्रवृत्तेश्च प्राणादिप्रेरणामयत्वात्त-
त्संस्पर्शोऽस्ति,—इति मानांशस्य बुद्धत्वमु-
क्तम् । प्राणादिसंस्पर्शेन ह्येषां चेतनाय-
मानत्वं जायते,—इत्युक्तं प्राक् । ‘मितिकारक’
इति मितिं करोतीति मितिकारः मितिकार
एव मितिकारकः प्रमात्रंश इत्यर्थः । स च
बुद्ध्यादिरूपत्वात्प्रबुद्ध इत्युक्तम् । ‘सुप्रबुद्ध’
इति वेद्यकालुष्यशून्यतया स्वात्मनि विश्रान्ति-

मयसंवित्तिमात्ररूपत्वात् प्रमामात्रेति प्रमि-
त्यंश इत्यर्थः ॥ २३६ ॥

न चाबुद्धादिरूपत्वमत्रास्माभिः खोपज्ञ-
मेवोक्तमित्याह

चातुर्विध्यं हि पिण्डस्थ-

नाग्नि जाग्रति कीर्तितम् ॥ २३७ ॥

ननु जाग्रदादीनि पञ्च पदानि परस्परं
विभिन्नानीत्युक्तं, तत्कथमियं संकीर्णप्राया
जाग्रत्स्वप्नो जाग्रत्सुषुप्तमित्यादिप्रसिद्धिरित्या-
शङ्क्याह

जाग्रदादि चतुष्कं हि

प्रत्येकमिह विद्यते ।

प्रत्येकमिति परस्परं, तेन जाग्रज्जाग्रजाग्र-
त्स्वप्न इत्यादिप्रसिद्धिर्न विरुध्यते,—इति सि-
द्धम् ॥ २३७ ॥

न केवलमेवंरूपत्वमेवात्रास्ति यावदबुद्धा-
दिरूपत्वमित्याह

जाग्रज्जाग्रदबुद्धं त-

जाग्रत्स्वप्नस्तु बुद्धता ॥३३८॥

इत्यादि तुर्यातीतं तु

सर्वगत्वात्पृथक्कृतः ।

ननु 'पञ्चावस्था' इत्युक्तं तच्चतुष्टयस्या-
बुद्धादिरूपत्वमभिहितं, तुर्यातीतस्य पुनः
किंरूपत्वमित्याशङ्क्याह 'तुर्यातीतं तु सर्वग-
त्वात्पृथक्कृतः' इति ।

'त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम् ।' (शि० सू० २३०) ।
इति शिवसूत्रदृष्ट्या यत्र तुर्यमपि सर्वत्रावि-
भक्तं तत्र का वार्ता तुर्यातीतस्येत्याकृतम् ॥२३८॥

एतदेव संवादयति

उक्तं च पिण्डगं जाग्र-

दबुद्धं बुद्धमेव च ॥ २३९ ॥

प्रबुद्धं सुप्रबुद्धं च

चतुर्विधमिदं स्मृतम् ।

१ क० पु० कृतमिति पाठः । २ क० पु० कृतमिति पाठः ।

३ ख० ग० पु० तदुक्तमिति पाठः । ४ क० पु० इतीति पाठः ।

उक्तमिति श्रीश्रीपूर्वशास्त्रे । तदुक्तं तत्र

‘चतुर्विधं तु पिण्डस्थमबुद्धं बुद्धमेव च ।

प्रबुद्धं सुप्रबुद्धं च..... ॥’ (मा०वि०२।४३)

इति ॥ २३९ ॥

एवमवस्थाचतुष्टयस्य परस्परं संकीर्णत्वेऽपि
‘यो देहांश’ इत्यादिनोक्तं प्रमेयपदं मुख्या
जाग्रदवस्था,—इत्याह

मेयभूमिरियं मुख्या

जाग्रदाख्यान्यदन्तरा ॥ २४० ॥

अन्यदिति मानाद्यंशरूपं स्वप्नादि । अन्त-
रेति तन्मध्यपतितममुख्यमित्यर्थः ॥ २४० ॥

ननु मेयभूमिरेव मुख्या जाग्रदवस्थेत्यत्र
किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह

भूततत्त्वाभिधानानां

योऽशोऽधिष्ठेय उच्यते ।

पिण्डस्थमिति तं प्राहु-

रिति श्रीमालिनीमते ॥ २४१ ॥

नन्वित्थं प्रमेयभूमौ पिण्डस्थमेव मुख्य-
मुक्तं स्यान्न जाग्रदित्याशङ्क्य जाग्रत एवेदं
संज्ञान्तरमित्याह

लौकिकी जाग्रदित्येषा

संज्ञा पिण्डस्थमित्यपि ।

योगिनां योगसिद्ध्यर्थं

संज्ञेयं परिभाष्यते ॥ २४२ ॥

तदुक्तम्

‘पिण्डस्थः सर्वतोभद्रो जाग्रन्नामद्वयं मतम् ।’

(मा० वि० २।३६)

इति ॥ २४२ ॥

ननु योगसिद्धौ पिण्डस्थमिति परिभाषणे
किं निमित्तमित्याशङ्क्याह

अधिष्ठेयसमापत्ति-

मध्यासीनस्य योगिनः ।

तादात्म्यं किल पिण्डस्थं

मितं पिण्डं हि पिण्डितम् २४३

अधिष्ठेयेन धरादिना या समापत्तिस्तादा-

त्म्यमयः समाधिविशेषस्तामधिशयानस्य योगिनो यद्धराद्यैकात्म्यं तदागमे पिण्डस्थमुच्यते, यतो धराद्येन मीयमानं पिण्डितं विशरारुतापरिहारेण शरीरीभूतं सत्पिण्डं गर्भीकृततत्तदर्थजातं व्यापकरूपमित्यर्थः २४३

न केवलमिदमेव जाग्रतः पारिभाषिकं संज्ञान्तरं यावदन्यदपीत्याह

प्रसंख्यानैकरूढानां

ज्ञानिनां तु तदुच्यते ।

सर्वतोभद्रमापूर्णं

सर्वतो वेद्यसत्तया ॥ २४४ ॥

तदिति जाग्रत् । एवं परिभाषणे चात्र किं निमित्तमित्याशङ्क्योक्तम् 'आपूर्णं सर्वतो वेद्यसत्तया' इति ॥ २४४ ॥

एवमपि प्रसंख्यानपरेष्वेवायं संज्ञानियमः, इति कोऽभिप्रायः,—इत्याशङ्क्याह

सर्वसत्तासमापूर्णं

विश्वं पश्येद्यतो यतः ।

ज्ञानी ततस्ततः संवि-

त्तत्वमस्य प्रकाशते ॥ २४५ ॥

एवं चात्र तिस्र एव संज्ञाः,—इत्यवधारणं
कुतस्त्यमित्याशङ्क्याह

लोकयोगप्रसंख्यान-

त्रैरूप्यवशतः किल ।

नामानि त्रीणि भण्यन्ते

स्वप्नादिष्वप्ययं विधिः ॥ २४६ ॥

एतदेवान्यत्राप्यतिदिशति 'स्वप्नादिष्वप्ययं
विधिः' इति । तेन लौकिकी संज्ञा स्वप्नः सुषुप्तं
तुर्यं च, यौगिकी पदस्थं रूपं रूपातीतं च,
ज्ञानीया व्याप्तिर्महाव्याप्तिः प्रचयश्चेति ।

तुर्यातीते पुनर्वक्ष्यमाणदृशा योगो न प्रतपे-
दिति लोकप्रसंख्यानाभिप्रायेण तुर्यातीतं
महाप्रचयश्चेति संज्ञाद्वयमेवोक्तम् ॥ २४६ ॥

एवं जाग्रदवस्थां निरूप्य, स्वप्नावस्थामपि
निरूपयति

यत्त्वधिष्ठानकरण-

भावमध्यास्य वर्तते ।

वेद्यं सत्पूर्वकथितं

भूततत्त्वाभिधामयम् ॥ २४७ ॥

तत्स्वप्नो मुख्यतो ज्ञेयं

तच्च वैकल्पिके पथि ।

यत्पुनर्जाग्रदशाधिशाय्यपि चैत्रमैत्रादिभू-
तानीत्यादिनोक्तं भूततत्त्वाधिष्ठितिक्रियायां
प्रमाणपदास्कन्दनेनास्ते तन्मुख्यतः स्वप्नो
मेयच्छायावभासिनी मानप्रधाना स्वप्नावस्थेय-
मित्यर्थः । 'मुख्यत'इति अन्तरा ह्यमुख्या
अप्यस्य स्वप्नजाग्रदादयो भेदाः संभवन्तीति
भावः । ननु विकल्पाविकल्पात्मके पदद्वयेऽ-
प्येषामेवंरूपत्वं भवेत् इदं पुनः किमधिकृत्यो-
क्तमित्याशङ्क्याह 'ज्ञेयं तच्च वैकल्पिके पथि'
इति । तदुक्तं

'स्वप्नो विकल्पाः ।' (शि० सू० १।९)

इति ॥ २४७ ॥

ननु लोके सर्वस्य स्वापावसरे स्वानुभव-
साक्षिकमविकल्पकवृत्त्यैव तत्तदर्थानुभवो भवे-
दिति किमेतदित्याशङ्क्याह

वैकल्पिकपथारूढ-

वेद्यसाम्यावभासनात् ॥ २४८ ॥

लोकरूढोऽप्यसौ स्वप्नः

साम्यं चाबाह्यरूपता ।

लोकेऽपि ह्यसाधारण्यादिना वैकल्पिकार्थ-
समानमेवावभासमधिकृत्य स्वप्नावस्था प्ररोह-
मुपगतेति नेदमपूर्वं किञ्चिदुक्तं 'तच्च वैक-
ल्पिके पथि ज्ञेयम्' इति । ननु विकल्पस्वप्नयो-
रर्थावभासे कुतस्त्यमेवं साम्यमित्याशङ्क्योक्तं
'साम्यं चाबाह्यरूपता' इति । चो हेतौ ।
अबाह्यरूपत्वादेव चात्रासाधारण्यादि भवे-
दिति भावः ॥ २४८ ॥

एवं वैकल्पिकार्थत्वेऽप्यत्र स्पष्टास्पष्टतया
द्वैविध्यं विभजति

उत्प्रेक्षास्वप्नसंकल्प-

स्मृत्युन्मादादिदृष्टिषु ॥ २४९ ॥

विस्पष्टं यद्वेद्यजातं

जाग्रन्मुख्यतयैव तत् ।

एतच्चात्र भयादिविषयत्वेन वाच्यम्
यदुक्तम्

‘भावनाबलतः स्पष्टं भयादाविव भासते ।
यज्ज्ञानमविसंवादि तत्प्रत्यक्षमकल्पकम् ॥’

इति । गाढत्रासानुरागादिना हि पुरःस्फुर
द्रूपमेवाततायिनायिकादि भायादित्युक्तं वि
स्पष्टं वेद्यजातमिति । आदिशब्दात्कामशो
कादि । तदुक्तम्

‘कामशोकभयोन्मादचौरस्त्रमाद्युपप्लुताः ।
अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥’

इति । मुख्यतयेति स्पष्टत्वस्यासाधारणजाग्र
हक्षणत्वात्, तेनार्थस्य वैकल्पिकत्वात्स्वप्नत्वं
स्पष्टत्वाच्च जाग्रत्त्वमिति स्वप्नजागरेयमित्युक्त
स्यात् ॥ २४९ ॥

एवं स्वप्नजागरां निरूप्य स्वप्नस्वप्नर्मा
निरूपयति

यत्तु तत्राप्यविस्पष्टं
स्पष्टाधिष्ठातृ भासते ॥ २५० ॥

विकल्पान्तरगं वेद्यं

तत्स्वप्नपदमुच्यते ।

अपिभिन्नक्रमः । तेन जाग्रदविशिष्टाधिष्ठा-
त्रपि विकल्पान्तरगमविस्पष्टं वेद्यजातं पुन-
स्तत्रोत्प्रेक्षादौ यद्भासते तत्स्वप्नपदमुच्यते स्व-
प्नस्वप्नरूपत्वान्मुख्यः स्वप्न इत्यर्थः ॥ २५० ॥

नन्वत्रार्थस्य स्पष्टास्पष्टत्वाभ्यां जाग्रत्स्वप्न-
विभाग उक्तस्तच्च स्पष्टास्पष्टत्वं संनिकर्षविप्र-
कर्षाभ्यामपि देवकुलादौ दृष्टमिति कथं ताव-
तैवैतद्भवेदित्याशङ्क्याह

तदैव तस्य वेत्त्येव

स्वयमेव ह्यबाह्यताम् ॥ २५१ ॥

तदैवेति निर्विचारमित्यर्थः । तस्येत्युत्प्रेक्षा-
विषयस्यार्थस्य । स्वयमेवेति नतु तैमिरिकादि-
द्विचन्द्रादिवदाप्तवचनात् ॥ २५१ ॥

ननु अब्राह्यता नाम किमुच्यते,—इत्याशङ्क्याह

प्रमात्रन्तरसाधार-

भावंहान्यस्थिरात्मते ।

बाह्यत्वे ह्यर्थस्य सर्वप्रमातृसाधारण्यं स्थि-
रत्वं च भवेदिति भावः ॥

नन्वत्र स्वप्नजागराद्येव भेदतया किमस्ति
उतान्यदपि, -इत्याशङ्क्याह

तत्रापि चातुर्विध्यं तत्

प्राग्दिशैव प्रकल्पयेत् ॥२५२॥

गतागतं सुविक्षिप्तं

संगतं सुसमाहितम् ।

न केवलं जागरायामेव चातुर्विध्यमस्ति
यावत्स्वप्नेऽपीत्यपिशब्दार्थः । प्राग्दिशैवेति मे-
यादिगतत्वेन स्वप्नस्वप्नादिगतत्वेन च । तदे-
वाह गतागतमित्यादि । एते च क्रमेण षट्त्रिं-
शदङ्गुलप्राणचारोपजायमानगमागमसंबन्धात्
दूरतरदेशकालोल्लिख्यमानपदार्थसंस्पर्शात् सं-
कल्पनैकवृत्तिमनोमात्रसंसर्गाद् वैकल्पिकार्थैक-
तानत्वाच्चेत्येवमन्वर्थनामानश्चत्वारो भेदाः ।

तदुक्तम्

‘द्विसंज्ञं स्वप्नमिच्छन्ति पदस्थं व्याप्तिरित्यपि ।’

(मा०वि०२।३७)

इत्युपक्रम्य

‘.....पदस्थं च चतुर्विधम् ।

गतागतं सुविक्षिप्तं संगतं सुसमाहितम् ॥’

(मा० वि० २।४४)

इति ॥ २५२ ॥

स्वप्नेऽपि जागरावत्रिधैव संज्ञाभेदोऽस्तीत्याह

अत्रापि पूर्ववन्नाम

लौकिकं स्वप्न इत्यदः ॥२५३॥

बाह्याभिमतभावानां

स्वापो ह्यग्रहणं मतम् ।

सर्वाध्वनः पदं प्राणः

संकल्पोऽवगमात्मकः ॥ २५४ ॥

पदं च तत्समापत्ति

पदस्थं योगिनो विदुः ।

लोकेऽपि स्वप्नशब्दस्यात्र प्रवृत्तौ किं निमित्तमित्याशङ्क्योक्तं बाह्याभिमतभावानां स्वापो ह्यग्रहणमिति । सर्वाध्वनः पदमिति स्थानं यथा चैतत्तथा षष्ठाहिक एव निर्णीतम् । पद्यते

ज्ञायतेऽनेन सर्वमित्यवगमात्मकत्वात्संकल्पो
 ऽपि पदं तदैकात्म्यमेव च तत्स्थत्वमुच्यते,-
 इत्युक्तं तत्समापत्ति पदस्थमिति । तेन प्राणै
 कात्म्यं संकल्पैकात्म्यं चेत्यर्थः । 'योगिन'इत्य
 नेनास्याः संज्ञाया योगिविषयत्वमुक्तम् ॥२५४॥

एवं ज्ञानिविषयत्वेनापि संज्ञान्तरं योज
 यति

वेद्यसत्तां बहिर्भूता-

मनपेक्ष्यैव सर्वतः ॥ २५५ ॥

वेद्ये स्वातन्त्र्यभाग् ज्ञानं

स्वप्नं व्याप्तितया भजेत् ।

इह खलु बहीरूपतात्मपारतन्त्र्यमपहार
 सर्वतः स्वात्ममात्रोल्लिखित एवार्थे स्वतन्त्र
 संयोजनवियोजनकारि वैकल्पिकं ज्ञानमेव
 स्वप्नं ज्ञानिषु व्याप्तितया भजेत्तथा व्यवहारे
 दित्यर्थः ॥ २५५ ॥

जागरायां च यथा प्रमेयस्य प्राधान्यं तथे
 हापि प्रमाणस्येत्याह

मानभूमिरियं मुख्या

स्वप्नो ह्यामर्शनात्मकः ॥२५६॥

मानप्राधान्ये हेतुः 'स्वप्नो ह्यामर्शनात्मकः'
इति । 'आमर्शनात्मक'इति मानसावसाय-
रूपत्वान्निश्चयात्मक इत्यर्थः ॥ २५६ ॥

वेद्यच्छायोऽवभासो हि

मेयेऽधिष्ठानमुच्यते ।

यत्त्वधिष्ठातृभूतादेः

पूर्वोक्तस्य वपुर्ध्रुवम् ॥ २५७ ॥

बीजं विश्वस्य तत्तूष्णीं-

भूतं सौषुप्तमुच्यते ।

नन्वधिष्ठितिक्रियाकरणं स्वप्नः,—इत्युक्तं त-
त्कथमामर्शनात्मकत्वमिहास्योक्तमित्याशङ्क्याह

अनुभूतौ विकल्पे च

योऽसौ द्रष्टा स एव हि ॥२५८

न भावग्रहणं तेन

सुष्टु सुप्तत्वमुच्यते ।

१ एतत् सार्धपद्यं ग० पुस्तकात्पूरितं टीकापुस्तकेष्वस्मत्प्राप्तेषु नोपलब्ध-
मतोऽत्र टीका न दृश्यते ।

य एव जागरायां स्वप्ने च प्रमातोक्तः स
 एव सौषुप्तेऽपीति, प्रमिणोतीति प्रमाता
 प्रमातृत्वादेवावश्यं मेयमानादिक्षोभेन भवि-
 तव्यमिति कथमुक्तं तूष्णींभूतमित्याशङ्क्याह
 'स एव हि न भावग्रहणम्' इति । न हि
 प्रमातैव भावः प्रमेयं, ग्रहणं वा प्रमाणं, तथा-
 त्वे हि चतुष्टमेवैतन्न स्यादिति समग्र एव
 व्यवहारः समुत्सीदेत्, अतश्च मेयमानादि-
 क्षोभमन्तरेण प्रमातापि स्वात्ममात्रविश्रान्तो
 भवेद्येनेयमवस्था सर्वत्र सुष्टु सुप्तमित्युद्धो-
 ष्यते ॥ २५८ ॥

ननु यद्येवं तर्हि कथमन्तःकरणधर्मो
 गाढनिद्रापि लोकेषु सुषुप्तमित्युच्यत इत्या-
 शङ्क्याह

तत्साम्याल्लौकिकीं निद्रां

सुषुप्तं मन्वते बुधाः ॥ २५९ ॥

बीजभावोऽथाग्रहणं

साम्यं तूष्णींस्वभावता ।

किं नाम च तत्साम्यमित्याशङ्क्योक्तं

तूष्णींस्वभावतेति । तूष्णींस्वभावेऽपि किं नि-
मित्तमित्याशङ्क्याह 'बीजभाव'इति संभाव्य-
मानभाविकार्यसंबन्धात्, अग्रहणमिति च
बाह्यविषयासंवेदनात् ॥ २५९ ॥

इदमेव च जाग्रज्जाग्रदादिवन्मुख्यं सुषुप्त-
मित्याह

मुख्या मातृदशा सेयं

सुषुप्ताख्या निगद्यते ॥ २६० ॥

अस्यापि प्राग्वदेव योगिज्ञानिविषयतया
संज्ञाद्वयमस्तीत्याह

रूपकत्वाच्च रूपं त-

त्तादात्म्यं योगिनः पुनः ।

रूपस्थं तत्समापत्यौ-

दासीन्यं रूपिणां विदुः ॥ २६१ ॥

प्रसंख्यानवतः कापि

वेद्यसंकोचनात्र यत् ।

नास्ति तेन महाव्याप्ति-

रियं तदनुसारतः ॥ २६२ ॥

प्रमातृमात्रसारत्वाद्भिश्चस्य रूपयति तत्त-
 दर्थजातं स्वात्मसात्कारेण रूपवत्करोतीति
 रूपं प्रमाता, तदैकात्म्यं नाम योगिषु रूपस्थं
 विदुस्तथा व्यवहरन्तीत्यर्थः । नन्वेवं प्रमात्रै-
 कात्म्ये योगिनां तुर्यसुषुप्तयोः को विशेषः,-
 इत्याशङ्क्याह तत्समापत्त्या रूपिणामौदासीन्य-
 मिति । अत्र हि प्रमातृरूपसमापत्त्या रूपिणां
 भावानामौदासीन्यमनुद्रेको नतु तुर्यदशा-
 यामिव सर्वतो विगलनं येनाविशेषः स्यात् ।
 तेनेति वेद्यसंकोचनानास्तित्वेन हेतुनेत्यर्थः ।
 'तदनुसारत'इति प्रसंख्यानवतोऽनुसृत्येत्यर्थः ।
 तदुक्तम्

'रूपस्थं तु महाव्याप्तिः सुषुप्तस्यापि तद्वयम् ।'

(मा० वि० २।३७)

इति ॥ २६२ ॥

अत्रापि पिण्डस्थादिवद्भेदचातूरूप्यमस्ती-
 त्याह

उदासीनस्य तस्यापि

वेद्यं येन चतुर्विधम् ।

भूतादि तदुपाध्युत्थ-

मत्र भेदचतुष्टयम् ॥ २६३ ॥

उदितं विपुलं शान्तं

सुप्रसन्नमथापरम् ।

वेद्यादिक्षोभशून्यस्यापि प्रमातुर्भूततत्त्वादि
वेद्यं येन वक्ष्यमाणोदितत्वादिभेदाच्चतुर्विधं,
तेनापि उपाधिबलायातमुदितत्वादिभेदचतु-
ष्टयमेवेति वाक्यार्थः । उदितमिति संस्कार-
मात्रात्मनावस्थानात् । विपुलमिति तथैव
प्ररोहात् । शान्तमिति प्रलीनसंस्कारत्वात् ।
सुप्रसन्नमिति उद्भवदहंभावरसौन्मुख्यात् । त-
दुक्तम्

‘चतुर्धा रूपसंस्थं तु ज्ञातव्यं योगचिन्तकैः ।

उदितं विपुलं शान्तं सुप्रसन्नमथापरम् ॥’

(मा० वि० २।४४)

इति ॥ २६३ ॥

इदानीं क्रमप्राप्तं तुर्यं लक्षयति

यत्तु प्रमात्मकं रूपं

प्रमातुरुपरि स्थितम् ॥ २६४ ॥

पूर्णतागमनौन्मुख्य-

मौदासीन्यात्परिच्युतिः ।

तत्तुर्यमुच्यते शक्ति-

समावेशो ह्यसौ मतः ॥ २६५ ॥

प्रमातुरिति मितस्य, पूर्णस्य हि चतस्रोऽपि विधाः स्वातन्त्र्यविजृम्भामात्रमित्यभिप्रायः । उपरिस्थितत्वमेव दर्शयति पूर्णतागमनौन्मुख्यमौदासीन्यात्परिच्युतिरिति । ननु कथंकारं नाम तुर्यदशायामौदासीन्यन्यग्भावमात्रात्स्वरूपताग्रहोन्मुखीभावो भवेदित्याशङ्क्याह 'शक्ति-समावेशो ह्यसौ मतः' इति । परामर्शरूपायां हि शक्तौ समावेशस्तत्प्राधान्यमेवेत्यर्थः ॥ २६५ ॥

नन्विदं पूर्णतागमनं प्रत्यौन्मुख्यं नाम किं पूर्णं रूपमुतापूर्णं, तत्रापूर्णं चेज्जाग्रदादय एव, पूर्णं चेत्तुर्यातीतमेवेत्यन्तरा किमिदं तुर्यं नामेत्याशङ्क्याह

सा संवित्स्वप्रकाशा तु

कैश्चिदुक्ता प्रमेयतः ।

मानान्मातुश्च भिन्नैव

तदर्थं त्रितयं यतः ॥ २६६ ॥

सा तुर्यरूपा संवित्कैश्चित्स्वप्रकाशत्वात्प्र-
मेयादिभ्यो व्यतिरिक्तैवोक्तेति वाक्यार्थः,
अन्यथा ह्यस्याः परप्रकाशवादे प्रकाशत्वेन च
प्रमाणादपरोक्षसंविद्धादे च तथाविधादेव प्रमा-
तुर्भेदो न सिद्ध्येत् । ननु स्वप्रकाशत्वम-
प्यस्याः कुतस्त्यमित्याशङ्क्योक्तं 'तदर्थं त्रितयं
यतः' इति । यतस्तज्जाग्रदादित्रयं तस्यां संवि-
द्येवार्थोऽर्थनात्मिका याच्ञाकाङ्क्षा यस्य तत्सं-
विद्धिश्रान्त्युन्मुखमित्यर्थः । अन्यथा हि जाग्र-
दादिविश्रान्तिरूपायास्तस्या अपि विश्रान्त्य-
न्तरोन्मुखत्वेऽनवस्था भवेदिति भावः ॥ २६६ ॥

कथं चास्यामेते विश्राम्यन्तीत्याशङ्क्याह

मेयं माने मातरि तत्

सोऽपि तस्यां मितौ स्फुटम् ।

विश्राम्यतीति सैवैषा

देवी विश्वैकजीवितम् ॥ २६७ ॥

देवीति स्वप्रकाशत्वाद्दयोतमानेत्यर्थः । वि-
श्वैकजीवितमिति प्रमेयादेः सर्वस्यैवात्र विश्र-
मात् । यदुक्तम्

‘वेद्यं वेदकतामाप्तं वेदकः संविदात्मताम् ।
संविच्चदात्मा चेत्सत्यं तेनेदं त्वन्मयं जगत् ॥’

इति ॥ २६७ ॥

नन्वियं प्रमाणफलरूपा मेयादित्रयसाध्या
मितिरतो मेयादयोऽस्या जीवितं नतु सा
तेषामिति किमेतदुक्तमित्याशङ्क्याह

रूपं दृशाहमित्यंश-

त्रयमुत्तीर्य वर्तते ।

द्वारमात्राश्रितोपाया

पश्यामीत्यनुपायिका ॥ २६८ ॥

प्रमातृता स्वतन्त्रत्व-

रूपा सेयं प्रकाशते ।

संवित्तुरीयरूपैवं

प्रकाशात्मा स्वयं च सा ॥ २६९ ॥

रूपमिति प्रमेयम्, दृशेति प्रमाणम्, अह-
मिति प्रमाता, सेयं विश्वैकजीवितं शुद्धा
परा संविदेवमंशत्रयोत्तीर्णा पश्यामीत्येवमाकारं
बहिष्प्रसरणानन्तरं प्रत्यावृत्य स्वात्मविश्रान्तौ
यद्द्वारं तावत्येवाश्रितो मेयादित्रयलक्षण उपायो
यथा सा, स्वरूपे पुनरनुपयुज्यमानानुपपद्य-
मानोपाया, स्वातन्त्र्यमयी परप्रमातृता सेति
वाक्यार्थः । ननु कर्मकरणकर्तृव्यतिरिक्तं फल-
दशाधिशायि तुरीयं रूपं प्रकाशं पश्यामो न
तु तदतिरिक्ता काचन संवित्परिस्फुरति यस्याः
पश्यामीति द्वारमुच्येतेत्याशङ्क्याह 'प्रकाशते'
इति । चो हेतौ । सा हि परप्रमातृरूपा शुद्धा
संवित्स्वयं प्रकाशते नतु पश्यामीत्यादिविकल्पो-
ल्लेखभूमिरित्यर्थः । यतस्तुरीयाभिमतस्य पश्या-
मीति प्रकाशस्य सैवात्मा तस्यां हि क्षणमप्यप्र-
काशमानायां न किञ्चिदेव परिस्फुरेत् ॥२६९॥

अत एवाह

तत्समावेशतादात्म्ये

मातृत्वं भवति स्फुटम् ।

तत्समावेशोपरागा-
न्मानत्वं मेयता पुनः ॥२७०॥

तत्समावेशनैकव्या-
त्रयं तत्तदनुग्रहात् ।

प्रमात्रादीनां हि तुर्यसंविदमपेक्ष्य यथा-
यथं विप्रकर्षः,—इत्युक्तं 'तत्समावेशतादात्म्ये'
इति, तत्समावेशोपरागादिति, तत्समावेश-
नैकव्यादिति च ॥ २७० ॥

प्रमाणफलविलक्षणसंविद्वाद् एव चागम-
प्रसिद्धिरनुगतेत्याह

वेद्यादिभेद्गलना-

दुक्ता सेयमनामया ॥ २७१ ॥

मात्राद्यनुग्रहादा(धा)ना-
त्सव्यापारेति भण्यते ।

उक्तेति इहैव समनन्तरम् । 'अनामया
सव्यापारा च भण्यते' इति श्रीपूर्वशास्त्रे यद्दूर
एव संवादयिष्यति ॥ २७१ ॥

एतदेव स्वदर्शनभङ्ग्यापि योजयति

जाग्रदाद्यपि देवस्य

शक्तित्वेन व्यवस्थितम् ॥२७२

अपरं परापरं च

द्विधा तत्सा परा त्वियम् ।

ततश्च तज्जाग्रदादित्रयमेव द्विधा पारमेश्वरी शक्तिरित्युक्तं द्विधा तत्सेति । सेति शक्तिः, इयं तु तुर्यात्मा संवित्परा तेन जाग्रत्स्वप्नावपरा, सुषुप्तं परापरा, तुर्यं च परेति ॥ २७२ ॥

अत्रापि^१ प्राग्वदेव संज्ञाभेदोऽस्तीत्याह

रूपकत्वाद्दुदासीना-

द्ध्युतेयं पूर्णतोन्मुखी ॥२७३॥

दशा तस्यां समापत्ती

रूपातीतं तु योगिनः ।

पूर्णतौन्मुख्ययोगित्वा-

द्विश्वं पश्यति तन्मयः ॥२७४॥

प्रसंख्याता प्रचयत-

स्तेनेयं प्रचयो मता ।

पूर्णतौन्मुख्यादुदासीनाद्रूपकत्वात्प्रमातृ-
त्वात् च्युतायामस्यां तुर्यदशायां योगिषु स-
मापत्तिर्नाम रूपं मितमपि मातारमतिक्रान्त-
त्वाद्रूपातीतमित्युच्यते । 'प्रचयत' इति राशी-
भूतत्वेन अत एव 'तन्मय' इत्युक्तं विश्वस्य
करामलकवत्प्रचित्ततया दर्शनेन हेतुनेत्यर्थः ।
तदुक्तम्

'प्रचयो रूपातीतं च सम्यक्चुर्यमुदाहृतम् ।'

(मा० वि० २।३८)

इति ॥ २७४ ॥

नन्वस्यामपि परस्परसांकर्याज्जाग्रदादिव-
च्चातूरूप्यं किं संभवेन्नवेत्याशङ्क्याह

नैतस्यामपरा तुर्य-

दशा संभाव्यते किल ॥२७५॥

संविन्न किल वेद्या सा

वित्त्वेनैव हि भासते ।

तुर्यं हि परा संवित् सा च वेदित्रेकस्व-
भावेति वेद्यदशासंस्पर्शोऽप्यस्या न स्यात्तत्क-
थमियं वेद्यवेदकोभयरूपतामश्रुवीत येनोभ-
यदशाधिशायि तुर्यतुर्यमपि स्यात् ॥ २७५ ॥

ननु यद्येवं तर्हि तुर्यजाग्रदाद्यपि किं संभ-
वेन्नवेत्याशङ्क्याह

जाग्रदाद्यास्तु संभाव्या-

स्तिस्त्रोऽस्याः प्राग्दशा यतः २७६

त्रितयानुग्रहात्सेयं

तेनोक्ता त्रिकशासने ।

मनोन्मनमनन्तं च

सर्वार्थमिति भेदतः ॥ २७७ ॥

‘संभाव्या’इति जाग्रदाद्यो हि परस्या
एव संविदः स्वातन्त्र्यविजृम्भितम्, अत एवाह
यत्त्रितयानुग्रहात्सेयमिति । अत एव जाग्र-
दाद्यानुगुण्येन श्रीपूर्वशास्त्रे त्रिप्रकारतयेय-
मुक्तेत्याह तेनेत्यादि । तेनेति जाग्रदाद्यवस्था-
त्रयानुग्राहकत्वेन । मनोन्मनमिति जागराया-

मविकल्पकप्राधान्यान्मनसो मननरूपस्वव्या-
पारोत्क्रमणेन वृत्तेः । अनन्तमिति स्वप्ने विष-
येन्द्रियाद्यनपेक्षणेन देशकालाद्यनियमात् ।
सर्वार्थमिति सुषुप्ते विश्वस्य शक्त्यात्मनाव-
स्थानात् ॥ २७७ ॥

एवं तुर्यमभिधाय तुर्यातीतमप्यभिधत्ते

यत्तु पूर्णानवच्छिन्न-

वपुरानन्दनिर्भरम् ।

तुर्यातीतं तु तत्प्राहु-

स्तदेव परमं पदम् ॥ २७८ ॥

ननु तुर्यातीतं नाम पञ्चमं पदं किमतोऽ-
प्यन्यत्पदमस्ति नवा,—इत्याशङ्क्योक्तं तदेव
परमं पदमिति । परममित्यनन्याकाङ्क्षं परवि-
श्रान्तिधामत्वात्, अत एवोक्तं पूर्णानवच्छिन्न-
वपुरिति, आनन्दनिर्भरमिति च ॥ २७८ ॥

ननु लोकयोगप्रसंख्यानवशाद्यथा जाग्रदा-
दीनां चतसृणामप्यवस्थानां त्रीणि नामान्यु-
क्तानि, तद्गदिहापि किमुच्यन्ते नवेत्याशङ्क्याह

नात्र योगस्य सद्भावो

भावनादेरभावतः ।

अप्रमेयेऽपरिच्छिन्ने

स्वतन्त्रे भाव्यता कुतः॥२७९॥

योगाद्यभावतस्तेन

नामास्मिन्नादिशद्विभुः ।

तेनेति योगादेरसद्भावेन । यथा चैतत्तथा
द्वितीयाह्निकादावुक्तम् ॥ २७९ ॥

अतश्चात्र संविदेकरूपत्वात्प्रसंख्यानमेव
प्रपततीति तदभिप्रायेणैव नामास्तीत्याह

प्रसंख्यानबलात्त्वेत-

द्रूपं पूर्णत्वयोगतः ॥ २८० ॥

अनुत्तरादिह प्रोक्तं

महाप्रचयसंज्ञितम् ।

एतद्रूपमित्येतच्छब्देन तुर्यातीतपरामर्शः ।
ननु तुर्ये 'प्रचय'इति संज्ञानमुक्तमिह तु त-
तोऽपि महत्त्वे किं निमित्तमित्याशङ्क्योक्तम्

‘अनुत्तरात्’ इति ‘पूर्णत्वयोगत’ इति । अनु-
त्तरादिति तुर्यात् । तत्र हि संविदो विश्वोत्तीर्ण-
मेव रूपमिह तु तथात्वेऽपि विश्वमयमिति
ततोऽप्यस्य महत्त्वयोगः । तदुक्तम्

‘महाप्रचयमिच्छन्ति तुर्यातीतं विचक्षणाः ।’

(मा० वि० २।३८)

इति ॥ २८० ॥

अत एवात्र प्रचय इव भेदसंभावनापि
नास्तीति न कश्चिदपि विशेषकतया भेद
उक्तः,—इत्याह

पूर्णत्वादेव भेदाना-

मस्यां संभावना न हि ॥२८१॥

तन्निरासाय नैतस्यां

भेद उक्तो विशेषणम् ।

ननु श्रीपूर्वशास्त्रे

‘मनोन्मनमनन्तं च सर्वार्थं सततोदितम् ।

प्रचये तत्र संज्ञेयमेकं तन्महसि स्थितम् ॥’

(मा० वि० २।४६)

इत्यादिना महाप्रचयेऽपि सततोदिताख्यो भेद उक्तः,—इति कथमेतद्वोचस्तुर्यातीतदशायां नोक्तो भेद इतीत्याशङ्क्याह

सततोदितमित्येत-

त्सर्वव्यापित्वसूचकम् ॥ २८२ ॥

‘सत्त्वं लघु प्रकाशकम् ।’ (सां० १३ का०)

इत्यादौ सत्त्वस्य लघुत्वादिना तथातथास्वरूपमेवोक्तं तथेहापि सततोदितत्वेन सर्वव्यापित्वलक्षणमखण्डस्वरूपमेव प्रकाशितमिति ॥ २८२ ॥

किमत्र प्रमाणमित्याशङ्क्याह

न ह्येक एव भवति

भेदः क्वचन कश्चन ।

भेदा हि प्रतियोगिनमपेक्ष्य भेदका भवेयुरिति कथमेक एव भेदः स्यात् । स हि स्वरूपमेवोच्यते ॥

अतश्चात्रैको भेदः,—इत्येतन्मूढप्रलपितमित्याह

तुर्यातीते भेद एकः

सततोदित इत्ययम् ॥ २८३ ॥

मूढवादस्तेन सिद्ध-

मविभेदित्वमस्य तु ।

अत एवागमोऽप्येवमित्याह

श्रीपूर्वशास्त्रे तेनोक्तं

तत्र पिण्डस्थस्य प्राक्संवादितत्वात्पदस्था-
त्प्रभृति तदेव पठति

पदस्थमपरं विदुः ॥ २८४ ॥

मन्त्रास्तत्पतयः सेशा

रूपस्थमिति कीर्त्यते ।

रूपातीतं परा शक्तिः

सव्यापाराप्यनामया ॥ २८५ ॥

निष्प्रपञ्चो निराभासः

शुद्धः स्वात्मन्यवस्थितः ।

सर्वातीतः शिवो ज्ञेयो

यं विदित्वा विमुच्यते ॥२८६॥

अपरमित्यधिष्ठानकरणं, सुषुप्ते च प्रमातु-
रेव प्राधान्यमित्युक्तं 'मन्त्रास्तत्पतयः सेशा'
इति । शक्तिरिति संवित्, सैव हि तुर्यस्य
रूपमित्युक्तं प्राक् । 'निष्प्रपञ्च' इति अवि-
भिन्नस्वभाव इत्यर्थः । अत एवोक्तं 'स्वात्म-
न्यवस्थित' इति 'निराभास' इति 'शुद्ध' इति
च । 'सर्वातीत' इति सर्वं तुर्याद्यतीतः सर्वा-
नप्यत्यर्थमित्यर्थः ॥ २८६ ॥

नन्विह 'श्रीशंभुनाथाज्ज्ञात्वा मयैतद्दर्श्यते'
इति प्रागुक्तं तेन पुनः स्वोपज्ञमेव किमेतदुक्तं
नवेत्याशङ्क्याह

इति श्रीसुमतिप्रज्ञा-

चन्द्रिकाशान्ततामसः ।

श्रीशंभुनाथः सद्भावं

जाग्रदादौ न्यरूपयत् ॥ २८७ ॥

श्रीसुमतिनाथो ह्यस्य परमगुरुर्यत्पारम्पर्या-
दनेनैतदधिगतम् ॥ २८७ ॥

इदानीमेषामेव गुर्वन्तरमताभिप्रायेणापि
स्वरूपं निरूपयितुमुपक्रमते

अन्ये तु कथयन्त्येषां

भङ्गीमन्यादृशीं श्रिताः ।

यद्रूपं जाग्रदादीनां

तदिदानीं निरूप्यते ॥ २८८ ॥

अन्य इति श्रीप्रत्यभिज्ञाकारादयः ॥२८८॥

तदेवाह

तत्राक्षवृत्तिमाश्रित्य

बाह्याकारग्रहो हि यः ।

तज्जाग्रत्स्फुटमासीन-

मनुबन्धि पुनः पुनः ॥ २८९ ॥

आत्मसंकल्पनिर्माणं

स्वप्नो जाग्रद्विपर्ययः ।

लयाकलस्य भोगोऽसौ

मलकर्मवशान्नतु ॥ २९० ॥

स्थिरीभवेन्निशाभावा-
त्सुप्तं सौख्याद्यवेदने ।

ज्ञानाकलस्य मलतः

केवलाद्भोगमात्रतः ॥ २९१ ॥

यन्नाम बाह्यत्वात्सर्वप्रमातृसाधारणस्या-
र्थस्य सर्वाक्षगोचरतया ग्रहणं, तज्जाग्रज्जागराव-
स्थेत्यर्थः । तच्चार्थस्य बाह्यत्वादेव स्फुटमासीनं
स्पष्टावभासतया तिष्ठत्, अत एव बाधानुदया-
त्पुनःपुनरनुबन्धि स्फुटं स्थिरार्थविषयमि-
त्यर्थः । तदुक्तम्

‘सर्वाक्षगोचरत्वेन या तु बाह्यतया स्थिरा ।

सृष्टिः साधारणी सर्वप्रमातृणां स जागरः ॥’

(ई० प्र० ३।२।१७)

इति । स्वप्नस्य च जाग्रद्विपर्यये हेतुरात्म-
संकल्पनिर्माणमिति । तत्र हि मनोमात्रवि-
षयत्वादर्थस्य सर्वाक्षगोचरत्वं सर्वप्रमातृसा-
धारणत्वं पुनःपुनरनुबन्धित्वं च नेति ।
तदुक्तम्

‘मनोमात्रपथेऽप्यक्षविषयत्वेन विभ्रमात् ।

स्पष्टावभासा भावानां सृष्टिः स्वप्नपदं मतम् ॥’

(ई० प्र० ३।२।१६)

इति । यत्पुनरत्र स्पष्टावभासत्वमुक्तं तदपि सर्वाक्षगोचरत्वाद्यभावाज्जाग्रद्विपरीतमेवेति न कश्चिद्विरोधः । ‘लयाकलस्य भोगोऽसौ’ इति लयाकलोऽत्र भोक्तैवेत्यर्थः, अत एव जाग्रत्यपि सकलः प्रमातेत्यनेन सूचितम् । तदुक्तम्

‘तत्र स्वरूपे ग्राह्यत्वं सकलो ग्राहको मतः ।

ग्रहणाकारतामाप्ता शक्तिः सकलसंमता ॥’

इति । ननु चात्र लयाकलस्य सकलवत्कस्मान्न भोगः स्थिरत्वं यायादित्याशङ्क्याह नत्वित्यादि । अस्य ह्याणवकार्ममलद्वययोगाज्जातोऽपि भोगो मायीयमलाभावान्न प्ररोहमियाच्छरीरादेराश्रयस्यासंपत्तेः । तदुक्तम्

‘प्रलयाकलसंज्ञो यस्तस्य कार्ममलस्थितेः ।

स भोगो जायते मायाभावात्स्थैर्यं न गच्छति ॥’

इति । सौख्यादीत्यादिशब्दान्नीलादि । तदुक्तम्

‘……सौषुप्तं प्रलयोपमम् ।’ (ई० प्र० ३।२।१५)

इति ।

‘.....ज्ञेयशून्यता ।’ (ई० प्र० ३।२।१३)

इति च । तच्च ज्ञानाकलस्य पदमिति शेषः ।
अत्र हेतुरभिलाषैकरूपाणवमात्रोत्थाद्भोगयो-
ग्यत्वादिति ॥ २९१ ॥

ननु विज्ञानाकलानामपि किमाणवमल-
योगोऽस्ति तन्निमित्तकं भोगयोग्यत्वं चेत्या-
शङ्क्याह

भेदवन्तः स्वतोऽभिन्ना-

श्रिकीर्ष्यन्ते जडाजडाः ।

तुर्ये तत्र स्थिता मन्त्र-

तन्नाथाधीश्वरास्त्रयः ॥ २९२ ॥

यावद्भैरवबोधान्तः-

प्रवेशनसहिष्णवः ।

भावा विगलदात्मीय-

साराः स्वयमभेदिनः ॥ २९३ ॥

तुर्यातीतपदे संस्यु-

रिति पञ्चदशात्मके ।

ते हि विज्ञानाकला बोधाद्येकरूपत्वाद्-
भिन्ना अपि स्वतः परमेश्वरेच्छया भेदवन्त-
श्चिकीर्ष्यन्ते । अत एव भेदभाक्त्वाजडा,
अभेदभाक्त्वाच्चाजडाः,—इत्युक्तं 'जडाजडाः'
इति । यदाहुः

'बोधादिलक्षणैक्येऽपि येषामन्योन्यभिन्नता ।
तथेश्वरेच्छाभेदेन ते च विज्ञानकेवलाः ॥'

(ई० प्र० ३।२।७)

इति । तत्र स्थिता इति तत्र जाग्रदादौ स्थिताः
सकलप्रलयाकलविज्ञानाकला एव ये यथा-
योगं मन्त्रादिरूपतां प्राप्ताः सन्तस्तुर्ये प्रमा-
तारस्तदुपादानकत्वान्मन्त्रादीनाम् । तदुक्तम्

'विशिष्टसुखदुःखादिसाधनावेदने सति ।

तत्सामान्यमयो भोगो जागरे स्मृतिमागतः ॥

सौषुप्तो मलमात्रोत्थस्तत्र विज्ञानकेवलाः ।

भेदवन्तः स्वतोऽभिन्नाश्चिकीर्ष्यन्ते जडाजडाः ॥

तत्राविश्य च त इत्थं स्वातन्त्र्यात्तुर्यमीदृशम् ।

मन्त्रतत्पतिमन्त्रेशमहेशस्थितिभाक्त्वात् ॥'

इति । सर्वे हि परसंविद्धिश्रान्त्युन्मुखा एवेति
भावः । अत एव तुर्यातीतपदे प्रमातृप्रमेया-
त्मानः सर्व एव भावाः परसंविदैकात्म्यसहि-

ष्णुत्वाद्द्विगलदात्मीयसारा अत एव स्वयमभे-
 दिनः संस्युः शिवशक्तिमात्रात्मना रूपेण
 परिस्फुरन्तीत्यर्थः । यथोत्तरं भेदविगलनक्र-
 मावद्योतको यावच्छब्दः । पाञ्चदश्यक्रमे चैवं
 जाग्रदाद्यवस्था इत्युक्तम् 'इति पञ्चदशात्मके'
 इति ॥ २९३ ॥

एवं मतभेदेऽपि जाग्रदाद्यवस्थानां तात्प-
 र्येणैकमेव रूपं विश्रमयति

यस्य यद्यत्स्फुटं रूपं

तज्जाग्रदिति मन्यताम् ॥२९४॥

यदेवास्थिरमाभाति

सपूर्वं स्वप्न ईदृशः ।

अस्फुटं तु यदाभाति

सुप्तं तत्तत्पुरोऽपि यत् ॥२९५॥

त्रयस्यास्यानुसंधिस्तु

यद्वशादुपजायते ।

स्रक्सूत्रकल्पं तत्तुर्यं

सर्वभेदेषु गृह्यताम् ॥ २९६ ॥

यत्त्वद्वैतभरोह्लास-

द्राविताशेषभेदकम् ।

तुर्यातीतं तु तत्प्राहु-

रित्थं सर्वत्र योजयेत् ॥२९७॥

सपूर्वमिति पूर्वानुभूतमित्यर्थः । अस्फुट-
मिति सुषुप्ते विश्वस्य शक्त्यात्मनावस्थानाद-
नुद्भिन्नरूपमित्यर्थः । ननु यद्येवं तर्ह्यत्र न
किञ्चिदपि भायादित्याशङ्क्याह तत्पुरोऽपि य-
दिति । ततः सुषुप्तात्पुरो जागरायामपि तद्भव-
तीत्यर्थः, अत एव सुखमहमस्वाप्समित्या-
दिका स्मृतिः स्यात्, अत एव समनन्तरं
संवादितम् 'जागरे स्मृतिमागतः' इति ।
त्रयस्येति जाग्रदादेः । सर्वभेदेष्विति जाग्र-
जाग्रदाद्यवान्तरप्रकारेष्वित्यर्थः । स्रक्सूत्रक-
ल्पमिति सर्वानुगमात् । अत एवोक्तम्

'त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम् ।' (शि० सू० ३।२०)

इति । तुर्यातीते पुनरनुगन्नुगम्याद्यभावा-
द्भेद्गन्धोऽपि नास्तीत्युभयमतानुयायि तात्प-
र्यतो जाग्रदादीनां रूपमुक्तम् । एवं पाञ्च-

दश्यक्रमे जाग्रदाद्यवस्थापञ्चकमभिधाय त्रा-
योदश्यादावप्यतिदिशति—इत्थं सर्वत्र योज-
येदिति ॥ २९७ ॥

तदेवाह

लयाकले तुं स्वं रूपं

जाग्रत्तत्पूर्ववृत्ति तु ।

स्वप्नादीति क्रमं सर्वं

सर्वत्रानुसरेद्बुधः ॥ २९८ ॥

तत्पूर्ववृत्तीति ततः स्वरूपात्पूर्ववृत्ति लया-
कलादीत्यर्थः । सर्वत्रेति शिवान्तम् ॥ २९८ ॥

तदाह

एकत्रापि प्रभौ पूर्णे

चित्तुर्यातीतमुच्यते ।

आनन्दस्तुर्यमिच्छैव

बीजभूमिः सुषुप्तता ॥ २९९ ॥

ज्ञानशक्तिः स्वप्न उक्तः

क्रियाशक्तिस्तु जागृतिः ।

नचैतत् 'अग्निर्माणवकः' इत्यादिवदुपच-
रितमित्याह

न चैवमुपचारः स्या-

त्सर्वं तत्रैव वस्तुतः ॥ ३०० ॥

न चेन्न क्वापि मुख्यत्वं

नोपचारोऽपि तत्कचित् ।

यतस्तत्र चिदेकरूपे पूर्णे प्रभावेव सर्वं
भावजातं वस्तुतोऽस्ति, अन्यथा हि न किंचन
चकास्यात् । यदुक्तम्

'स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम् ।
अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते ॥'

(ई० प्र० १।५।१०)

इति । ततश्च सकलादौ तन्मुख्यं न स्याद्-
प्रकाशनादेव, तथात्वे च मुख्याभावादुपचारो-
ऽपि व्याहन्येतेति वास्तवमेव शिवेऽपि जाग्र-
दाद्यवस्थापञ्चकम् ॥ ३०० ॥

अत्रैव प्रमाणसिद्धतामाह

एतच्छ्रीपूर्वशास्त्रे च

स्फुटमुक्तं महेशिना ॥ ३०१ ॥

एतदेव श्रौतेनार्थेन च क्रमेणाह

तत्र स्वरूपं शक्तिश्च

सकलश्चेति तत्रयम् ।

इति जाग्रदवस्थेयं

भेदे पञ्चदशात्मके ॥ ३०२ ॥

अकलौ स्वप्नसौषुप्ते

तुर्यं मन्त्रादिवर्गभाक् ।

तुर्यातीतं शक्तिशंभू

त्रयोदशाभिधे पुनः ॥ ३०३ ॥

स्वरूपं जाग्रदन्यत्तु

प्राग्वत्प्रलयकेवले ।

स्वं जाग्रत्स्वप्नसुप्ते द्वे

तुर्याद्यत्र च पूर्ववत् ॥ ३०४ ॥

विज्ञानाकलभेदेऽपि

स्वं मन्त्रा मन्त्रनायकाः ।

तदीशाः शक्तिशंभ्वित्थं

पञ्च स्युर्जाग्रदादयः ॥ ३०५ ॥

सप्तभेदे तु मन्त्रारूये

स्वं मन्त्रेशा महेश्वराः ।

शक्तिः शंभुश्च पञ्चोक्ता

अवस्था जाग्रदादयः ॥३०६॥

स्वरूपं मन्त्रमाहेशी

शक्तिर्मन्त्रमहेश्वरः ।

शक्तिः शंभुरिमाः पञ्च

मन्त्रेशो पञ्चभेदके ॥ ३०७ ॥

स्वं क्रिया ज्ञानमिच्छा च

शंभुरत्र च पञ्चमी ।

महेशभेदे त्रिविधे

जाग्रदादि निरूपितम् ॥३०८॥

स्वरूपं धराद्यव्यक्तान्तं, सकलशब्दसंनिधानात्तदीयैव शक्तिः । अकलौ प्रलयाकलविज्ञानाकलौ । स्वरूपमिति सकलतच्छक्तिसहितं कलान्तमन्यत्प्राग्वदिति तदकलौ स्वप्नसुप्ते, तुर्यं मन्त्रादिवर्गभाक्, तुर्यातीतं शक्तिशंभू,— इत्यनुसर्तव्यम् । ‘प्रलयाकल’ इत्यर्थाद्वेद्ये, तेनैकादशात्मके भेदे इत्यर्थः । स्वमिति प्रलयाकलाद्यात्मकं स्वरूपं यत्प्राक्स्वप्नपदं सम्भवत् । ‘द्वे’ इति विज्ञानाकलतच्छक्ती, तेन विज्ञानाकलशक्तिः स्वप्ने, विज्ञानाकलस्तु सुषुप्ते इति । पूर्ववदिति तेन तुर्ये मन्त्रादयस्तुर्यातीते तु शक्तिशिवाविति । ‘विज्ञानाकलभेद’ इति नवात्मके भेदे इत्यर्थः । स्वमिति विज्ञानाकलादिरूपं यत्प्राक्स्वप्नसौषुप्तदशामध्यशेत । ‘जाग्रदादय’ इत्यनेन क्रमः सूचितः, तेन सशक्तिर्विज्ञानाकलो जाग्रत् यावच्छक्तिशिवौ तुर्यातीतमिति । खं मन्त्रादिरूपं जाग्रद्यत्प्राक्स्वप्नदशामधिशयानमासीत्, तेन स्वप्ने

मन्त्रेश्वराः, सुप्ते मन्त्रमहेश्वरास्तुर्ये शक्तिस्तुर्या-
तीते तु शंभुरिति । स्वरूपमिति मन्त्रेश्वरादि-
रूपं जाग्रद्यत्प्राक्स्वप्नपदमासीत् मन्त्रमहेश्वर-
शक्तेरारभ्य पुनः क्रमात्स्वप्नाद्या अवस्थाः ।
स्वमिति मन्त्रमहेश्वरादिरूपं जाग्रद्यावच्छंभुः
पञ्चमी तुर्यातीतावस्था स्यात् । अस्मद्दर्शने
च वस्तुतः शिवशक्तेस्त्रैरूप्यमेवोदितमित्युक्तं
क्रिया ज्ञानमिच्छा चेति ॥ ३०७ ॥

न केवलमियदन्तमेव जाग्रदादि निरूप-
णीयतया संभवेद्यावद्विगलितभेदसद्भावे शि-
वेऽपीत्याह

व्यापारादाधिपत्याच्च

तद्धान्या प्रेरकत्वतः ।

इच्छानिवृत्तेः स्वस्थत्वा-

च्छिव एकोऽपि पञ्चधा ॥ ३०९ ॥

एतच्च समनन्तरमेवोक्तं विभज्य ग्रन्थ-
कृतास्माभिश्च व्याख्यातमिति नेह पुनराय-
स्तम् । तदुक्तं तत्र

'स्वरूपं तत्र शक्तिश्च सकलश्चेति तत्रयम् ।
 इति जाग्रदवस्थेयं भेदे पञ्चदशात्मके ॥
 अकलौ द्वौ परिज्ञेयौ सम्यक्स्वप्नसुषुप्तयोः ।
 मन्त्रादितत्पतीशानवर्गस्तुर्य इति स्मृतः ॥
 शक्तिशंभू परिज्ञेयौ तुर्यातीते वरानने ।
 त्रयोदशात्मके भेदे स्वरूपसकलाबुधौ ॥
 मन्त्रमन्त्रेश्वरेशानाः शक्तीशावपि पूर्ववत् ।
 प्रलयाकलभेदेऽपि स्वं विज्ञानकलाबुधौ ॥
 मन्त्रमन्त्रेश्वरेशानाः शक्तीशावपि पूर्ववत् ।
 नवधा कीर्तिते भेदे स्वं मन्त्रा मन्त्रनायकाः ॥
 तदीशाः शक्तिशंभू च पञ्चावस्थाः प्रकीर्तिताः ।
 पूर्ववत्सप्तभेदेऽपि स्वं मन्त्रेशेशशक्तयः ॥
 शिवश्चेति परिज्ञेयाः पञ्चैव वरवर्णिनि ।
 स्वं शक्तिः स्वा निजेशानाः शक्तिशंभू च पञ्चके ॥
 त्रिके स्वं शक्तिशक्तीच्छाशिवभेदं विलक्षयेत् ।
 सव्यापाराधिपत्वेन तद्धीनश्रेरकत्वतः ॥
 इच्छानिवृत्तेः स्वस्थत्वादभिन्नं चेति पञ्चधा ।'

(मा० वि० २।३५)

इति । प्रमातृभेदश्च वस्तुधर्मादिषु त्रिष्वपि
 प्रमेयेष्वन्तः प्रतिपदमुक्तः,—इति तेन नेह
 पृथगुपात्तः ॥ ३०८ ॥

एतदेव प्रथमार्धेनोपसंहरति

इत्येष दर्शितोऽस्माभि-

स्तत्त्वाध्वा विस्तरादथ ।

विस्तरादिति, पूर्वाह्निके हि संक्षेपेण षट्त्रिंशद्धा एतदुक्तम्, इह तु प्रतितत्त्वं पाञ्चदश्यादिक्रमेणान्यथेति भावः । अथेत्यन्ते मङ्गलार्थमिति शिवम् ॥

कौमारिलनैयायिकमत-

विर्मतिसतत्त्वविज्जयरथाख्यः ।

अख्यापयदतिविशदां

दशमाह्निके विवृतिरीतिमिमाम् ॥

इति श्रीतन्त्रालोकविवेके तत्त्वभेदप्रकाशनं

नाम दशममाह्निकम् ॥

श्रीमध्रतापभूभर्तुराज्ञया प्रीतये सताम् ।

मधुसूदनकौलेन सम्पाद्येदं प्रकाशितम् ॥

अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते
श्रीजयरथकृतविवेकाख्यटीकोपेते

एकादशमाह्निकम् ।

स्वात्ममहाभीमरवा-
मर्शनवशशकलिताध्वसन्तानः ।
भवदुर्गभञ्जनजयो-
त्साहो जयताज्जयोत्साहः ॥

इदानीमपरार्धेन कलाध्वानमुपक्रमते

कलाध्वा वक्ष्यते श्रीम-

च्छांभवाज्ञानुसारतः ॥ १ ॥

ननु कलैव नाम किमुच्यते यस्या अप्य-
ध्वपरिभाषा स्यात्, — इत्याशङ्क्याह

यथा पूर्वोक्तभुवन-

मध्ये निजनिजं गणम् ।

अनुयत्परतो भिन्नं

तत्त्वं नामेति भण्यते ॥ २ ॥

तथा तेष्वपि तत्त्वेषु

स्ववर्गेऽनुगमात्मकम् ।

व्यावृत्तं परवर्गाच्च

कलेति शिवशासने ॥ ३ ॥

तत्त्वेष्विति मध्ये, स्ववर्ग इति वक्ष्यमाण-
नीत्यैकतत्त्वादिरूपे, व्यावृत्तमिति अश्वादिभ्य
ए(इ)व गोत्वम् ॥ ३ ॥

अत्रैव पक्षान्तरं प्रदर्शयति

केचिदाहुः पुनर्यासौ

शक्तिरन्तः सुसूक्ष्मिका ।

तत्त्वानां सा कलेत्युक्ता

धरण्यां धारिका यथा ॥ ४ ॥

सुसूक्ष्मिकेति कार्यान्यथानुपपत्त्या परिक-
ल्प्यमाना स्वयमलक्ष्यत्वात् । एवं धरण्या यथा
धारिका शक्तिरनुगतास्ति तथा परां काष्ठां

प्राप्ताद्बहिर्मुखत्वान्निवर्तकत्वेन कलयित्री नि-
वृत्त्याख्यापि, — इत्युक्तं स्यात् । एवमबादि-
मूलान्तं तत्त्वचतुर्विंशतेरपि भेदव्यवहार एव
प्रतिष्ठानेन कलयित्री प्रतिष्ठाख्या शक्तिः ।
एवमन्यासामपि संकुचितात्मरूपत्वस्य वेद-
नेन मायीपदस्योपशमनेन तदतीतत्वेन च
कलनात्तदाख्यत्वं च ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

न चात्र वस्तुतः पक्षद्वयेऽपि कश्चिद्विशेषो-
ऽस्तीत्याह

अत्र पक्षद्वये वस्तु

न भिन्नं भासते यतः ।

अनुगामि न सामान्य-

मिष्टं नैयायिकादिवत् ॥ ५ ॥

यतः पूर्वस्मिन्नपि पक्षे शक्तिरूपतामपहाय
नैयायिकादिवदनुगममात्रलक्षणमेव सामान्यं
नाभिप्रेतं तदुभयत्रापि शक्तिरूपत्वानुगमस्या-
विशेषान्न कश्चिदतिशय इति ॥ ५ ॥

अत्र चान्येषां मतान्तरमप्यस्तीत्याह

अन्ये वदन्ति दीक्षादौ

सुखसंग्रहणार्थतः ।

शिवेन कल्पितो वर्गः

कलेति समयाश्रयः ॥ ६ ॥

ननु समयो नामेच्छामात्रनिबन्धनः सं-
केतः स चापारमार्थिकत्वादसत्यः, अत एव
समयान्तरमप्युत्सहते, इत्येवं नियमो न
स्यात्, - इत्याशङ्क्याह

कृतश्च देवदेवेन

समयोऽपरमार्थताम् ।

न गच्छतीति नासत्यो

न चान्यसमयोदयः ॥ ७ ॥

अपारमार्थिकत्वागमनेऽसत्यत्वाभावे सम-
यान्तरानुदये च देवदेवकृतत्वं हेतुः, अन्यथा
ह्येतन्नयमप्यत्र संभाव्यं भवेदिति भावः ॥७॥

नन्वासां च किमनुगन्तव्यं किं वा सुखेन
संग्रहणीयमित्याशङ्क्याह

निवृत्तिः पृथिवीतत्त्वे

प्रतिष्ठाव्यक्तगोचरे ।

विद्या निशान्ते शान्ता च

शक्तयन्तेऽण्डमिदं चतुः ॥ ८ ॥

अण्डमिदं चतुरिति, इदमेव निवृत्त्यादि-
कलासमव्याप्तिकमण्डचतुष्टयमित्यर्थः । तदु-
क्तम्

‘पार्थिवं प्राकृतं चैव मायीयं शाक्तमेव च ।

इति संक्षेपतः प्रोक्तमेतदण्डचतुष्टयम् ॥’

(मा० वि० २।४९)

इति । ‘शक्तयन्त’ इत्यनेन व्यापिनीप-
दादौ कलान्तरस्यावकाशोऽस्ति, — इति प्रका-
शितम् ॥ ८ ॥

तदाह

शान्तातीता शिवे तत्त्वे

कलातीतः परः शिवः ।

‘शिवे तत्त्वे’ इत्यर्थादाक्षिप्तशक्तितत्त्वे स-
र्वाविभागात्मनि षट्त्रिंशे यस्य समनन्तरमेव
सकलसंकल्पनाकलङ्ककवलीकाराभिद्योतना-
योपदेश्यजनापेक्षया सप्तत्रिंशादित्वेन कल्पि-
तमपि रूपान्तरं लक्ष्यते । अत एवोक्तं ‘क-
लातीतः परः शिवः’ इति । ‘कलातीत’

इति समग्रकलोज्झितत्वान्निष्कल इत्यर्थः,
अत एव पर इत्युक्तम् ॥

एतदेवोपपादयति

नह्यत्र वर्गीकरणं

समयः कलनापि वा ॥ ९ ॥

युज्यते सर्वतोदिक्कं

स्वातन्त्र्योल्लासधामनि ।

वर्गीकरणं प्रकारद्वयात्मा पक्षः, आद्यः
समयोऽन्यः कलना तथातथाविकल्पनम् ।
अत्र सर्वतः स्वातन्त्र्योल्लासधामत्वं हेतुः ॥ ९ ॥

ननु यद्येवं तत् 'सर्वक्रियाणां कर्ता शिवो
विज्ञेयः' इत्युपदेशादौ कथमसौ कलनीयतां
यायात्, — इत्याशङ्क्याह

स्वातन्त्र्यात्तु निजं रूपं

बोद्धृधर्मादविच्युतम् ॥ १० ॥

उपदेशतदावेश-

परमार्थत्वसिद्धये ।

बोध्यतामानयन्देवः

स्फुटमेव विभाव्यते ॥ ११ ॥

यतोऽतः शिवतत्त्वेऽपि
कलासंगतिरुच्यते ।

‘अत’ इति बोद्धृत्वेऽपि स्वस्वातद्याद्बो-
द्धृत्यत्वेन विभावनात्कलासंगतिरिति तथातथा-
विकल्पनसंबन्ध इत्यर्थः । तदुक्तम्

‘स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्यादद्वयात्मनः ।

प्रभुरीशादिसंकल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत् ॥’ (ई०प्र०१।५।१६)

इति । एतच्च बहुप्रकारं प्रागुपपादितमिति
न पुनरिहायस्तम् । इयता च कलास्वरूप-
मुक्तम् ॥ ११ ॥

ननु भवतु नामैतन्नास्माकमत्र विप्रतिपत्तिः
किन्तु शक्त्यन्तमेव यावत् कस्मादण्डत्वमुक्तं
न तु व्यापिन्यादावित्याशङ्क्याह

अण्डं च नाम भुवन-

विभागस्थितिकारणम् ॥ १२ ॥

प्राहुरावरणं तच्च

शक्त्यन्तं यावदस्ति हि ।

तदिति आवरणम् ॥ १२ ॥

नन्वत्र भुवनानां विभागेनावस्थानमस्ति
तत्कारणमण्डरूपमावरणं च नास्ति,— इत्य-
पूर्वमिदमभिधानमित्याह

यद्यपि प्राक् शिवाख्येऽपि

तत्त्वे भुवनपद्धतिः ॥ १३ ॥

उक्ता तथाप्यप्रतिघे

नास्मिन्नावृत्तिसंभवः ।

‘ शिवाख्येऽपि तत्त्वे ’ इति तात्स्थ्यात् व्या-
पिन्यादावपीत्यर्थः । ‘ अप्रतिघ ’ इति विश्वो-
त्तीर्णतया शून्यरूपत्वात्, आवृत्यभावे चाय-
मेव विशेषणद्वारेण हेतुः ॥ १३ ॥

ननु प्रतीघातो नाम मूर्तधर्मो मूर्तत्वं च
पृथिव्यामेव संभवेत्, ततश्च तामपहायान्य-
त्राण्डस्य संभवो न न्याय्यः,— इत्याह

नन्वेवं धरणीं मुक्त्वा

शक्तौ प्रकृतिमाययोः ॥ १४ ॥

अपि चाप्रतिघत्वेऽपि

कथमण्डस्य संभवः ।

अत्रास्मद्गुरवः प्राहु-

र्यत्पृथिव्यादिपञ्चकम् ॥ १५ ॥

प्रत्यक्षमिदमाभाति

ततोऽन्यन्नास्ति किञ्चन ।

मेयत्वे स्थूलसूक्ष्मत्वा-

न्मानत्वे करणत्वतः ॥ १६ ॥

कर्तृतोऽह्मासतः कर्तृ-

भावे स्फुटतयोदितम् ।

त्रिंशत्तत्त्वं विभेदात्म

तदभेदो निशा मता ॥ १७ ॥

कार्यत्वकरणत्वादि-

विभागगलने सति ।

विकासोत्कस्वतन्त्रत्वे

शिवान्तं पञ्चकं जगुः ॥ १८ ॥

यतः प्रत्यक्षसिद्धात्पृथिव्यादिपञ्चकादन्यत्
किञ्चिन्नास्ति, तद्भित्त्यवलम्बनेनैव निखिलस्य
विश्वस्योदय इत्यर्थः । यतोऽस्य मेयत्वे सति

उक्तहेतुपञ्चकबलात् त्रिंशतस्तत्वानां विभेदे-
 नोदयः । तथा च स्थूलसूक्ष्मरूपं पृथिव्या-
 दीनां पञ्चकद्वयमेतद्रूपमेवेति तावन्नास्ति वि-
 प्रतिपत्तिः, ज्ञानांशस्पर्शात्प्रमाणरूपं बुद्धीन्द्रि-
 यपञ्चकमप्येतन्मूलमेव । नहि मेयमपहाय
 मानत्वं नाम किञ्चिद्भवेदिति भावः । कर्त्रंश-
 स्पर्शात् करणरूपं कर्मेन्द्रियपञ्चकमप्येतदाल-
 म्बनमेव, कार्यमन्तरेण करणत्वायोगात् क-
 र्तृत्वे च कार्यविषयमेव भवेत्,— इति मनः-
 प्रभृति तत्त्वपञ्चकमप्येवम्, अन्यथा हि कर्तृ-
 त्वमेव नोह्यसेत् । यद्यप्यन्तःकरणत्रयं करण-
 पक्षनिक्षिप्तमेव तथापि कर्तुरन्तरङ्गत्वाद्बहि-
 ष्करणद्वारेण च बाह्यविषयसंस्पर्शादेवमुक्तम् ।
 प्रकृतेश्च बुद्ध्यादिकर्तृपकरणकारणत्वात्पारम्प-
 र्येण कर्तृतोह्यासकत्वमित्येवमभिधानम् । एवं
 नियत्यादिकञ्चुकपञ्चकमपि

‘अधुनैव किञ्चिदेवेदमेव सर्वात्मनैव जानाति ।’

(पर० सा० १७ श्लो०)

इत्याद्युक्तयुक्त्या कर्तृत्वस्यैवोपोहलत्वात् त-
 दवलम्बनमेवेति । नन्वेवं मायादि ततोऽन्य-

त्स्यात्, - इत्याशङ्क्याह ' तदभेद ' इत्यादि ।
 तच्छब्देनात्र पृथिव्यादीनां परामर्शः । एतद-
 भेदे च कार्यत्वादिविभागगलनं निमित्तं,
 कारणे हि कार्यस्य सूक्ष्मेण रूपेणावस्थानं
 भवेत्, - इति भावः । विकासोत्केति, यथा-
 यथमिदन्तायाः संकोचेनाहन्तायाः समुल्ला-
 सात्, इदन्तायाश्च संकुचन्त्या अपि मे-
 यनिष्ठत्वं निर्विवादमेवेति युक्तमुक्तमस्मद्गुरु-
 भिः ' पृथिव्यादिपञ्चकादन्यत् किञ्चिन्नास्ति '
 इति ॥ १८ ॥

नच स्वोपज्ञमेवैतदुक्तमित्याह

श्रीमत्कालोत्तरादौ च

कथितं भूयसा तथा ।

पञ्चैतानि तु तत्त्वानि

यैर्व्याप्तमखिलं जगत् ॥ १९ ॥

तदेवाह पञ्चेत्यादि । एतानीति पृथिव्या-
 दीनि । यदुक्तं तत्र

'पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ।'

इति ॥ १९ ॥

अत एव सद्योजातादेरप्येषैव व्याप्तिः
सर्वत्रोच्यते, — इत्याह

पञ्चमन्त्रतनौ तेन
सद्योजातादि भण्यते ।

ईशानान्तं तत्र तत्र
धरादिगगनान्तकम् ॥ २० ॥

तेनेति पृथिव्यादीनामेवोक्तेन जगद्व्यापक-
त्वेन हेतुना, तत्र तत्र श्रीकालोत्तरादौ । य-
दुक्तं तत्र

‘सद्यस्तु पृथिवी ज्ञेया वामो ह्यापः प्रकीर्तिताः ।
अघोरस्तेज इत्युक्तं वायुस्तत्पुरुषः स्मृतः ॥
आकाशस्तु भवेदीशः स्वयं देवो महेश्वरः ।

इति । श्रीपरेऽपि

‘सद्यः क्षितिर्जलं वामोऽघोरस्तेजो नरो मरुत् ।
ईशः खं..... ॥’

इति ॥ २० ॥

एवं शक्त्यन्तमेव यावदावरणं संभवती-
त्युपपादितं, ततश्च व्यापिन्यादावावरणं नास्ती-
त्याह

शिवतत्त्वमतः शून्या-

तिशून्यं स्यादनाश्रि[वृ]तम् ।

‘ अत ’ इति शक्यन्तमेव यावदावरणस्य संभवात् । शून्यातिशून्यमिति, ‘ शून्यात् ’ व्यापिन्यादिपदान्द्रावसंस्कारस्यापि प्रक्षयादतिशून्यं षट्त्रिंशं तत्त्वमित्यर्थः । अत एवावरणविगमादनावृतमित्युक्तम् । ततश्च नात्रापडव्यपदेशः, — इति युक्तमुक्तं शक्यन्तं यावदण्डत्वमिति ॥

नन्वेवं विश्वोत्तीर्णमेव षट्त्रिंशं तत्त्वमित्युक्तं भवेत्, ततश्च स्वतन्त्रबोधैकरूपं विश्वमयं परं तत्त्वमिति रिक्ता वाचोयुक्तिः स्यात्,— इत्याशङ्क्याह

यत्तु सर्वाविभागात्म

स्वतन्त्रं बोधसुन्दरम् ॥ २१ ॥

सप्तत्रिंशं तु तत्प्राहु-

स्तत्त्वं परशिवाभिधम् ।

इह खलु विश्वोत्तीर्णत्वेऽपि विश्वमयमेकमेव रूपं स्वतन्त्रबोधात्मकं परं तत्त्वं यत्

सर्वत्र षट्त्रिंशं तत्त्वमित्युद्धोष्यते । तत्र
 चाविद्यापदपतिताः प्रतिपत्तारो विप्रतिप-
 द्यन्ते — यदेकस्मिन्नेव रूपे कथं विरुद्धधर्म-
 संसर्गः स्यादिति, यदभिप्रायेणैवैतद्रूपमतः
 पृथक्कृत्योक्तं सप्तत्रिंशमिति । नहि वस्तु-
 तः किञ्चिदेवं तत्त्वं संभवति, तथात्वे हि
 'षट्त्रिंशत्तत्त्वमुखानि' इत्यादिश्रुतिविरोधः
 स्यात् । नचैवमत्र कश्चिद्विरोधः, स ह्युभय-
 वस्त्वधिष्ठानो भवेत् । न चात्रैकमपि वस्तु
 संभवति, नहि परं तत्त्वमधिकृत्य विश्वमेव
 नाम किञ्चिद्वस्तु सदस्ति यदुत्तीर्णत्वेन यन्म-
 यत्वेन चात्र विरोधः परापतेत् । तस्मात् षट्-
 त्रिंशस्यैव तत्त्वस्य सर्वाविभागात्मत्वाद्यात्मक-
 मेकं रूपं सप्तत्रिंशत्त्वेन परिकल्पितं भेदात्तान्
 प्रमातृन् प्रत्येवमुपदेशात् ॥ २१ ॥

नन्वेवमस्तु को दोषः, एतस्यापि रूपस्य
 भावनोपदेशादौ पुनर्यदा वेद्यभावः परिक-
 ल्प्यते तदा कस्य प्रमातृत्वं स्यात्, — इत्या-
 शङ्क्याह

तस्याप्युक्तनयाद्वेद्य-

भावेऽत्र परिकल्पिते ॥ २२ ॥

यदास्ते ह्यनवच्छिन्नं
तदष्टात्रिंशमुच्यते ।

उक्तनयादिति, 'स्वातध्यात्तु निजं रूपं'
(त० लो० ११।१०) इत्यादिरूपात् । यदि-
ति विश्वोत्तीर्णाद्यपेक्षया तृतीयं रूपं, वस्तु-
तो हि विश्वोत्तीर्णत्वादिरूपत्वेऽपि स्वतत्र-
बोधः परमार्थः, — इत्यादिनीत्यानवच्छिन्नं बो-
धमात्रमेवास्य परं रूपं यदष्टात्रिंशमिति प-
रिकल्प्यते ॥ २२ ॥

नन्वेवं तस्यापि वेद्यत्वपरिकल्पनेऽन्यः
प्रमाता कल्पनीयस्तस्याप्यन्य इत्यनवस्था
स्यात्, — इत्याशङ्क्याह

न चानवस्था ह्येवं स्या-

दृश्यतां हि महात्मभिः ॥२३॥

एतदेव दर्शयति

यद्वेद्यं किञ्चिदाभाति

तत्क्षये यत्प्रकाशते ।

तत्तत्त्वमिति निर्णीतं

षट्त्रिंशं हृदि भासते ॥ २४ ॥

‘तत्क्षये’ इति तस्य समनान्तस्य वेद्यस्य । यदिति वेदकैकरूपं, प्रकाशते इत्ययत्नमेव सर्वेषां साक्षात्कृतं भवेदित्यर्थः । यदाहुः

‘नाथ वेद्यक्षये केन न दृश्योऽस्येकको भवान् ।’

(उ० स्तो० १।८)

इति । षट्त्रिंशमिति, विश्वोत्तीर्णं रूपमित्यर्थः ॥ २४ ॥

नन्वेवमस्य किं विश्वविविक्ततैव रूपमुतान्यत्किञ्चित्तदतिरिक्तं, तदाह

तत्किं न किञ्चिद्वा किञ्चि-

दित्याकाङ्क्षावशे वपुः ।

तत्राद्यः पक्षो दूरापेतो, नहि घटाभाव एव पटस्य रूपं भवितुमर्हति; अतश्चैतदनागूर्यैव पक्षान्तरं दर्शयति

चिदानन्दस्वतन्त्रैक-

रूपं तदिति देशने ॥ २५ ॥

सप्तत्रिंशं समाभाति

तत्राकाङ्क्षा च नापरा ।

तत्र चिता बोधसुन्दरत्वमानन्दे[न]च सर्वाविभागात्मत्वमुक्तम् । शक्तिदशायामेव हि विश्वमविभागेन भवेदिति भावः । एवमुपदेशे च षट्त्रिंशादतिरिक्तं रूपमुपदिष्टं भवेदित्युक्तम् 'इति देशने सप्तत्रिंशं समाभाति' इति । नहि यदेव विश्वोत्तीर्णं तदेव विश्वमयं भवितुमर्हति, — इत्युक्तप्रायम् । एवं चास्य चिदानन्देत्यादिना साक्षात्तात्त्विकं रूपमुक्तम्, — इत्यत्रान्यत् किञ्चिदाकाङ्क्षणीयं नास्तीत्युक्तं — तत्राकाङ्क्षा च नापरेति ॥२५॥

एवमुपदेश्यत्वादेव वेद्यभावः पुनरवस्थितः, — इत्यस्य केनचिद्वेदकेन भाव्यं, स एव पुनः कतरः, — इत्याशङ्क्याह

तच्चापि कृप्तवेद्यत्वं

यत्र भाति स चिन्मयः ॥२६॥

अष्टात्रिंशत्तमः सोऽपि

भावनायोपदिश्यते ।

यदि नाम ततः सप्त-

त्रिंश एव पुनर्भवेत् ॥ २७ ॥

‘ चिन्मय ’ इत्यनवच्छिन्नबोधमात्ररूप इत्यर्थः । नन्वियमेव सानवस्था यत्तस्य वेद्यभावे कल्पिते प्रमात्रन्तरेण भाव्यं, तस्याप्येवमिति, तदेतदाशङ्क्याह सोऽपीत्यादि ॥ २७ ॥

ननु कथमष्टात्रिंश एव सप्तत्रिंशो भवेदित्याशङ्क्याह

अविभागस्वतन्त्रत्व-

चिन्मयत्वादिधर्मता ।

समैव वेद्यीकरणं

केवलं त्वधिकं यतः ॥ २८ ॥

विरुद्धधर्माध्यासस्तावद्भेदहेतुरित्यविवादः । सर्वाविभागात्मत्वादेश्चाविशेषात् स एवात्र नास्ति, — इति कुतस्त्योऽयमनयोर्भेदः । यावता हि वेद्यत्वमात्रमत्राधिकं येनैकैकस्य वेद्यत्वं परिकल्प्यतेऽन्यस्य च वेदकत्वम् । एवमेवंविधं परं तत्त्वं यदा कल्पितवेद्यभानं[वं] भवेत् तदा सप्तत्रिंशमुच्यतेऽन्यथा त्वष्टात्रिं-

शमिति । न चाष्टात्रिंशस्यैव वेद्यभावे कल्पिते सप्तत्रिंशादन्यदपूर्वं किञ्चिद्रूपमुक्तं भवेत्, नाप्यन्यस्य तद्वेदकस्य कल्प्यमानस्य ततः, इत्यनयोः क्रियाव्यवहारवत्पारस्परिक एव वेद्यवेदकभावः,—इत्यनवस्थाया न कश्चिद्वकाशः । वस्तुतो हि सर्वशास्त्रेषु षट्त्रिंशत्वेन गीयमानमनवच्छिन्नं बोधमात्रमेव परतत्त्वमित्युक्तं, तस्यैव पुनः स्वस्वातव्यादेवं भेदोल्लासो येन मायाप्रमात्रपेक्षया महागुरूणां यथागममेवमुपदेशः,—इत्यलं पिष्टपेषणेन । आः किमुच्यते यथागममिति, को नामायमागमः, न तावत्प्रकृतं पूर्वशास्त्रं, नहि तत्रैतत्किञ्चिदुक्तं प्रत्युत तत्र दीक्षादौ

‘षट्त्रिंशत्तत्त्वभेदेन न्यासोऽयं समुदाहृतः ।’ (मा०वि०६।६)

इत्याद्येतद्विरुद्धमेवाभिहितम् । ग्रन्थकृता च तत्त्वाध्वप्रकाशनादौ तत्र तत्र तन्मतानुवर्तनमेव कृतम् । एवंविधश्च कश्चिदागमोऽपि न संवादितः । प्रक्रियाप्रतिपादकाश्चान्ये सर्व एवागमास्तथैवेति किं नाम तथाविधमागमा-

न्तरमस्ति यदनतिक्रमेणापूर्वतयैवमुपदेशः,—
इति । अस्त्येव ह्येवंविधमागमान्तरम् । तथा
च श्रीकुलरत्नमालायाम्

‘तत्त्वाध्वानं प्रवक्ष्यामि यथा ज्ञास्यसि सुव्रते ।
चरशक्तिद्वयं पूर्वं तदूर्ध्वं पञ्चकं स्मृतम् ॥
चतुष्कं च ततो देवि द्विरन्ध्रं जन्म एव च ।
व्याप्तिर्वैकुण्ठसंघट्टो व्याप्तिश्चैव तु लम्बिका ॥
रन्ध्रं तु अष्टमं देवि अर्धेन्दुः कुण्डली प्रिये ।
शान्तं चैव प्रशान्तं च विन्दुर्नित्योदितस्तथा ॥
ऊर्ध्वे नादं विजानीयात्षट् चक्राणि तदूर्ध्वतः ।
शक्तितत्त्वं तु षट्चक्रं शिवतत्त्वं तथैव च ॥
अष्टात्रिंशदमी तत्त्वास्तथाध्वानं वरानने ।
लौकिको यो न जानाति कथं दीक्षां तु कारयेत् ॥’

इत्याद्युक्तम् । नन्वत्र परमेश्वरेण प्रतिज्ञ-
यापि तत्त्वाध्वप्रवचनं पञ्चत्रिंशत्त्रिंशयोरेव
तत्त्वयोः साक्षादभिधानं कृतं नतु प्रसिद्धाना-
मपि तत्त्वान्तराणां, का वार्ता तु सप्तत्रिंशा-
ष्टात्रिंशयोः, प्रत्युत म्लिष्टप्रायमालूनविशीर्णं
किं तावदप्रातीतिकमुक्तम्,— इति न जा-
नीमः ।

ननु स्थितमेवात्र सर्वतत्त्वप्रवचनं किन्तु
षट्त्रिंशत्तत्त्वविषयायामविगीतायामपि प्रसिद्धौ

सप्तत्रिंशत्त्रिंशयोरपूर्वतयाभिधानेन सुकुमारहृदयानामागमिकानां संमोहो मा भूदिति करुणापरस्य परमेश्वरस्य गूढार्थतया यथोक्तनीत्या मायाप्रमात्रपेक्षया कल्पनामात्रसारमेवमभिधानं, तच्च गुरूपसेवनादावदृष्टकष्टैः स्वावमर्शशून्यैश्च कथमेवमेवावगम्यते, — इत्यामुखे म्लिष्टप्रायत्वादि लक्ष्यते । वस्तुतस्तु स्थितमेव सर्वतत्त्वानामभिधानम् । तथा च चरशब्देनात्र चरेर्गत्यर्थत्वाद्भक्तिक्रियोच्यते, तस्याश्चाकरणिका क्रिया न संभवति, — इति साधकतमतया परिकल्प्यमाना पादेन्द्रियात्मिका येयं शक्तिस्तस्या यद्भयं समस्तशरीरव्यापकत्वेऽपि अधिष्ठात्रधिष्ठेययोरभेदोपचारान्मुख्यमधिष्ठानस्थानं पादयुग्मं, तेन तत्त्वक्रमप्रवचनस्य प्रक्रान्तत्वाद्धरातत्त्वं लक्ष्यते, — इति पूर्वं प्रथमं स्थौल्यस्य परां काष्ठां प्राप्तं धरातत्त्वं स्मृतमित्यर्थः । तदूर्ध्वमप्यबाद्याकाशान्तं चतुष्कमावृत्त्या 'तदूर्ध्वं च पञ्चकं चतुष्कं' गन्धतन्मात्रं पुमन्तं तत्त्वविंशकं स्मृतमित्येवं पञ्चविंशतितत्त्वान्युक्तानीति सिद्धम् ।

चतुष्कशब्दस्य च तदूर्ध्वपदानन्तरं निर्देष्टव्य-
त्वेऽपि उभयत्रापि संबन्धसहिष्णुताप्रतिपाद-
नाभिप्रायेणात्र निर्देशः । एषां च गणनामात्रे-
णैव निर्देशे दर्शनान्तरेष्वपि प्रसिद्धत्वं निमि-
त्तम्, अत एव स्मृतमित्युक्तं न तूच्यते इत्यु-
क्तमिति वा । तदनन्तरमपि 'द्विरन्ध्रं' द्वे रन्ध्रे
ज्ञानक्रियालक्षणं मार्गद्वयं तद्गतं 'जन्म' स्वरूप-
गोपनावलात्तिरस्कृतस्य प्रतिप्रसवभङ्गाया किं-
चित्त्वेन पुनराविर्भवनं, तेन तदुपोद्बलकं कला-
विद्यात्मकं तत्त्वद्वयमेतदित्युक्तं स्यात् । कञ्चु-
कानां च क्रमस्यावास्तवत्वादनयोः प्राधान्यात्पुं-
स्तत्वानन्तर्येण वचनम् । 'व्याप्तिः' विशिष्टाप्तिः
सामान्याकारविषयमात्रावच्छिन्नः 'किञ्चिन्मे
भूयात्' इत्येवमात्मक आसङ्गो रागतत्त्वमि-
त्यर्थः । 'वैकुण्ठेन' कण्ठदेशस्थेन विष्णुना सह
'संघट्टो' मेलनमस्यास्ति,—इत्यनेन नियतित-
त्वमुक्तम् । अस्यापि ह्यङ्गुलदीक्षायां वक्ष्यमा-
णक्रमेणादूरविप्रकर्षात्कण्ठ एव देशः,—इत्या-
शयः । यद्वा स्थितिकारिणो वैकुण्ठस्य निय-
तिसंरक्षणमेव मुख्यया वृत्त्या कार्यमित्यस्या-

स्तथात्वमुक्तम् । ‘व्याप्तिः’ व्यापकत्वात्कालतत्त्वं, नहि तत्किञ्चिज्जगदुदरवर्ति पदार्थजातं संभवति यन्न कालेन कलितमिति । लम्बिकेति, तात्स्थान्माया । ‘पाठक्रमादार्थः क्रमो बलीयान्’ इति स्थित्या बिन्दुर्वेदनमिति, वेद्यतेऽनेनेति वा विद्या तदाख्यं द्वात्रिंशं तत्त्वमित्यर्थः । तथा स एव

‘ईश्वरो बहिरुन्मेषः.....’ (ई०प्र० । ३ । १।३)

इत्याद्युक्त्या नित्योदितोऽत एव विदिक्रियाकर्तृत्वेन प्रवृत्तत्वाद्बहिरुल्लसद्रूप ईश्वरस्तादाख्यं तत्त्वमिति यावत् । अस्यैव चावान्तरमात्रप्रमेयसंग्रहणपरत्वेनार्धेन्दुरिति विशेषणम् । अत एव नादान्तस्यापि नादान्तःकारो व्याकार्यः । नादमिति, सादाशिवं तत्त्वमित्यर्थः । ‘ऊर्ध्व’ इत्यस्यावृत्त्या सदाशिवस्याप्यूर्ध्वे ‘कुण्डली’

‘.....तदूर्ध्वं शक्तिकुण्डली ।’

इति वचनाच्छक्तिः । यथायथमावरणविगमाच्च ‘शान्तं’ व्यापिन्याः, ‘प्रशान्तं’ समनायारूपम् । एतच्च कुण्डल्यादित्रयं तात्स्थ्यादूर्ध्वं

ब्रह्मरन्ध्रोर्ध्ववर्तीत्यर्थः । तच्च रन्ध्रमष्टमं नादा-
 दारभ्य वैलोम्येन तावत्संख्याकत्वात्; अनेन
 चैवंरूपं पञ्चत्रिंशं शक्तितत्त्वमुक्तम् । ननु
 यद्येवं तत् 'षट् चक्राणि तदूर्ध्वत' इति
 तच्छब्देन किं नादः परामृश्यते किमुत व्यव-
 हितमपि कुण्डल्यादित्रयम्, एवंपरामर्शेपि
 'षट् चक्राणि' इति किमुच्यते, — इत्याश-
 ङ्क्योक्तं शक्तितत्त्वं तु षट्चक्रमिति । षट्
 चक्राणि शक्तितत्त्वादन्वन्न किञ्चिदित्यर्थः ।
 परमेश्वरस्य हि स्वातघ्नाख्या समवायिनी
 शक्तिरेव समनादिनेच्छादिना चान्तर्बहीरू-
 पेण त्रैरूप्येण प्रस्फुरन्ती सती षट्चक्रं
 शक्तितत्त्वमित्युक्तम् । चक्रशब्दो ह्यत्र 'कृती
 च्छेदने' इत्यस्य धातो रूपं विवक्षितं, तेन
 यथोक्तगत्या षोढा भेदितमित्यर्थः । ननु
 'पञ्चत्रिंशत्तत्त्वी शिवनाथस्यैव शक्तिरुक्तेयम्'
 इत्याद्युक्त्या शिवतत्त्वं तावत्षट्त्रिंशमेव, —
 इति नास्ति विप्रतिपत्तिः, सर्वत्रैवागमे च
 तथैवाविगीता प्रसिद्धिरिति कथम् 'अष्टात्रिं-
 शदमी तत्त्वा' इत्युपसंहृतम्, — इत्याशङ्क्योक्तं

तथैवेति, षट्चक्रमेव षोढा विकस्वरमित्यर्थः ।
 'कस विकासे' इत्यस्य हि धातोरयं प्रयोगः ।
 नन्वेवमपि शिवतत्त्वस्य षोढा विकसितत्वा-
 देकचत्वारिंशत्त्वानि स्युः, षट्त्रिंशदेवेति
 पुनरपि तदवस्थ एव स दोषः, कथम् 'अष्टा-
 त्रिंशत्त्वानि' इति । नैतत्, उक्तनीत्या हि
 षट्त्रिंशस्यैव शिवस्य स्वप्रकाशत्वेऽप्युपदेश-
 भावनादौ कल्पितायामपि प्रमेयतायां तथा-
 हि 'यादृशो यक्षस्तादृशो बलिरप्यस्य' इतिवत्
 तादृशेनैव प्रमात्रा भाव्यमिति सप्तत्रिंशं रूपं
 कल्पितं, तस्याप्येवंरूपतायामष्टात्रिंशं, तस्याप्ये-
 वंरूपतायामनवस्थापरिहाराय पुनः सप्तत्रिंश-
 मेवरूपं प्रमातृत्वेन कल्पितम्, — इति त्रयस्या-
 प्यस्य प्रत्येकं मातृत्वमेयत्वरूपत्वे शिवतत्त्वस्य
 षट्चक्रत्वं येन 'अष्टात्रिंशत्त्वानि' इत्युपसंह-
 तम् । नन्वेवमपि 'अष्टात्रिंशत्त्वानि' इति न
 युज्यते, सप्तत्रिंशस्यापि मेयत्वे कल्पिते षट्त्रिंश
 एव यथोक्तगत्या प्रमातास्तु किमनवस्थादायि-
 नाष्टात्रिंशेनाप्युपकल्पितेन, — इति चतुश्चक्रमे-
 वास्तु शिवतत्त्वम् । ननूक्त एवात्र परिहारो या-

वता हि एकस्यैव षट्त्रिंशस्य तत्त्वस्य मायाप्रमा-
त्रपेक्षया विश्वोत्तीर्णत्वेऽपि विश्वमयत्वं प्रमातृ-
त्वेऽपि प्रमेयत्वं च कथं नाम संगच्छताम्,—इत्ये-
तदपास्यं वर्तते । तच्चोभयमपि सप्तत्रिंशाष्टात्रिं-
शयोरेवोपकल्पनेनोपशाम्यति, द्वयोरपि भिन्न-
विषयत्वेनैव कृतार्थत्वस्योक्तत्वात्; आपतन्ती
चानवस्था परिहियमाणा श्रोतॄणां परं सुखा-
वबोधाय स्यात् न संभाव्यमानेत्यप्यष्टात्रिंशस्य
परिकल्पने बलवदवलम्बनमित्यास्ताम् । वस्तु-
तस्तु षट्त्रिंशमेव सर्वसहमित्युक्तप्रायम् । अत
एव श्रीप्रत्यभिज्ञाकारादिभिः

‘प्रथमस्य तथा भावे प्रद्वेषः किंनिबन्धनः ।’

इत्यादि हृदि समाधाय षट्त्रिंशस्यैव शिवस्य
न्यायसिद्धं स्वप्रकाशत्वमभ्युपगम्य नैतत्किञ्चि-
दुक्तं, किं त्वियदेवोक्तं यत्

‘स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्याद्द्वयात्मनः ।

प्रभुरीशादिसंकल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत् ॥’ (ई०प्र० १।५।१६)

इति । ग्रन्थकृता पुनस्तदेव भित्तितायावलम्ब्य
तदागमार्थव्याचिकीर्षापरतयैवमभिहितम्, —
इति सर्वं सुस्थम् ॥ २८ ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवोपक्षेप्तुं
न केवलमेभिरेवमखिलं जगद्ध्याप्तं यावद्भङ्ग्य-
न्तरेणापीत्याह

धरायां गुणतत्त्वान्ते

मायान्ते क्रमशः स्थिताः ।

गन्धो रसो रूपमन्तः

सूक्ष्मभावक्रमेण तु ॥ २९ ॥

इति स्थिते नये शक्ति-

तत्त्वान्तेऽप्यस्ति सौक्ष्म्यभाक् ।

स्पर्शः कोऽपि सदा यस्मै

योगिनः स्पृहयालवः ॥ ३० ॥

तत्स्पर्शान्ते तु संवित्तिः

शुद्धचिद्ब्योमरूपिणी ।

यस्यां रूढः समभ्येति

स्वप्रकाशात्मिकां पराम् ॥३१॥

‘स्पर्श’ इति संचरत्पिपीलिकास्पर्शप्रायः ।
यदुक्तम्

‘शक्तिं भिच्वा ततो देवि त्वक्शेषे व्यापिनी भवेत् ।

भवेदनुभवस्तत्र स्पर्शो यद्वत्पिपीलिका ॥’ (स्व० ४।३८२)

इति । स च ‘सौक्ष्म्यभाक्’ स्थूलसूक्ष्मान्तर-
विलक्षणोऽतः कोऽपीत्युक्तम् । अतश्च स एव
परमुपेयः, इत्युक्तं ‘यस्मै योगिनः स्पृहया-
लवः’ इति । न चायमकाण्डकूष्माण्डन्यायेना-
त्रावस्थितः,—इत्युक्तम् ‘इति स्थिते नये’ इति ।
तेन धरायां गन्धः प्रकृत्यन्ते रसो मायान्ते रूप-
मित्यन्तः सूक्ष्मेण रूपेण स्थितानीति न्यायम-
वलम्ब्येत्यर्थः । अत एव चैतदन्ते सर्व-
भावसंक्षयात्, ‘व्योमरूपिणी शुद्धज्ञानरूपा
संवित्तिः’ इत्युक्तम् । अत्र च व्योमरूपत्वोक्त्या
शक्त्यन्तादौ गुणगुणिनोरभेदोपचाराद्वाय्वा-
दिरूपत्वं ज्ञेयम् । परामित्यर्थात्संवित्तिम् ॥३१॥

नन्वेषां भूतगुणत्वाविशेषेऽपि योगिनां स्पर्श
एव स्पृहणीयो न रूपादयः,— इत्यत्र किं

प्रमाणमित्याशङ्क्याह

अतो विन्दुरतो नादो

रूपमस्मादतो रसः ।

इत्युक्तं क्षोभकत्वेन

स्पन्दे स्पर्शस्तु नो तथा ॥३२॥

इहोन्मेषादिशब्दव्यपदेश्यपरतत्त्वनिभाल-
नोद्यतानामप्यनुन्मूलितदेहाहंभाविनां योगि-
नामचिरात् तत एव विन्दुनादाद्यभिव्यक्ति-
वत्सिद्धिभूतो रूपादिरपि परतत्त्वासादनवि-
घ्नप्रायत्वात् क्षोभकत्वेन प्रवर्तते न तथा
स्पर्शः, - इति श्रीस्पन्दशास्त्रादावुक्तम् । तत्र
चास्य

‘प्रवर्तन्तेऽचिरेणैव क्षोभकत्वेन देहिनः ।’ (स्प० ४।१२)

इति द्वितीयमर्थम् । रूपमन्धकारेऽपि तत्त-
द्दृश्याकारदर्शनम् । रसवद्भस्तुविरहेऽपि लोला-
ग्रादावमृताद्यास्वादः ॥ ३२ ॥

ननु भवत्वेवं स्पर्शस्य स्पृहणीयत्वं को
दोषः पृथिव्यादितत्त्वपञ्चकस्य पुनरेवमवस्थाने

किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह

मतं चैतन्महेशस्य

श्रीपूर्वे यदभाषत ।

धारिकाप्यायिनी बोद्धी

पवित्री चावकाशदा ॥ ३३ ॥

एभिः शब्दैर्व्यवहरन्

निवृत्त्यादेर्निजं वपुः ।

बोद्धीति, तेजसो भास्वरत्वेन दर्शनप्राधान्यात् । पवित्रीति, अधराधरस्य भूतभावादेः संविदात्मकसारसंग्रहणायासारप्रायं जाड्यादिरूपत्वं शिथिलयन्तीत्यर्थः । यदुक्तमनेनैव

‘निबिडजडिमबन्धाद्बन्धुरत्वं प्रयातं

शिथिलयति यतः सा ग्रन्थिविस्फोटनेन ।

अधरपदनिविष्टं तेन सा शान्तशक्ति-

प्रसरसरणिरुक्ता तादृशेनैव नाम्ना ॥’

इति । ‘पूञ् पवने’ इत्यस्य ह्ययं प्रयोगः ।

उत्पूयिनीति त्वैशः पाठः । एभिः शब्दैरिति

धरादिरूपत्वं गमयद्भिरित्यर्थः ॥ ३३ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

पञ्चतत्त्वविधिः प्रोक्त-

स्त्रितत्त्वमधुनोच्यते ॥ ३४ ॥

विज्ञानाकलपर्यन्त-

मात्मा विद्येश्वरान्तकम् ।

शेषे शिवस्त्रितत्त्वे स्या-

देकतत्त्वे शिवः परम् ॥ ३५ ॥

तदुक्तम्

‘विज्ञानाकलपर्यन्तमात्मतत्त्वमुदाहृतम् ।

ईश्वरान्तं च विद्याह्वं शेषं शिवपदं विदुः ॥’ (मा० वि० २।४७)

इति । इह चानेन ‘एकत्रिपञ्चाद्यैस्तत्त्वक-

ल्पनम्’ (त० १ । २९६) इत्यनुजोद्देशोद्दि-

ष्टस्यैव तत्त्वकल्पनादेः प्रमेयस्यावकाशो दर्शित

इति ॥ ३५ ॥

ननु पृथिव्यादेस्तत्त्वपञ्चकस्याखिलतत्त्वव्या-

पकत्वेनाभिधानात् तत्त्वाध्वरूपत्वमेव, — इति

नास्ति विमतिः, त्रितत्त्वादेः पुनः कलादिव-

त्किमध्वान्तरत्वमुत तत्त्वाध्वत्वमेवेत्याशङ्क्याह

इमौ भेदावुभौ तत्त्व-
 भेदमात्रकृताविति ।
 तत्त्वाध्वैवायमित्थं च
 न षडध्वस्थितेः क्षतिः ॥३६॥

अयमिति समनन्तराह्निकद्वयोक्तः । यत-
 स्तत्तद्यासिगर्भीकारेण तत्त्वाध्वन एवैतद्भेद-
 वैचित्र्यमिति, अतश्च

.....'षड्विधोऽध्वा प्रकीर्तितः ।'

इत्यादिप्रत्यभिज्ञाया न काचित् खण्डना, —
 इत्युक्तम्—इत्थं च न षडध्वस्थितेः क्षति-
 रिति ॥ ३६ ॥

एतदेवान्यत्राप्यतिदिशति

प्रकृत् पुमान्यतिः कालो
 माया विद्येशसौशिवौ ।

शिवश्च नवतत्त्वेऽपि

विधौ तत्त्वाध्वरूपता ॥ ३७ ॥

एवमष्टादशाख्येऽपि विधौ न्यायं वदेत्सुधीः ।

उक्तं च

‘.....नवतर्त्वीं प्रचक्ष्महे ।’

इत्युपक्रम्य

‘प्रकृतिः पुरुषश्चैव नियतिः काल एव च ।
माया विद्या तथेशश्च सदाशिवशिवौ तथा ॥’

इति । न्यायमिति, तत्त्वाध्वरूपतायां साधक-
मेवेत्यर्थः । तदुक्तम्

‘शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
मनो बुद्धिरहंकारो गुणाः प्रकृतिरेव च ॥
पुरुषो नियतिश्चैव कालो माया तथैव च ।
विद्या चैवेश्वरं तत्त्वं सादाख्यं शक्तिगोचरः ।
अष्टादशैवं तत्त्वानि..... ॥’

इति ॥ ३७ ॥

ननु तत्त्वाद्यध्वनामन्यतमेनैव प्रकारेण दीक्षा
सिद्ध्येदिति मूलतः षड्विधत्वमेव किमर्थमुक्तं,
तत्राप्यवान्तरवैचित्र्यम्, — इत्याशङ्क्याह :

यत्र यत्र हि भोगेच्छा

तत्प्राधान्योपयोगतः ॥ ३८ ॥

अन्यान्तर्भावनातश्च
दीक्षानन्तविभेदभाक् ।

अनेके हि दीक्ष्याः, - इति तत्तदाशयानुसारं कस्यचिदध्वनः प्राधान्यमितरेषां च गुणभावो येनैवं दीक्षाया अप्यानन्त्यम् । एवं तत्त्वाध्वन्यपि कस्यचित्त्वस्य प्राधान्यं कस्यचिच्च गुणभावो येनैवमनेकभेदत्वं, तथात्वे चैषां न तत्त्वाध्वरूपताप्रच्यावस्तत्त्वभेदमात्रकृतत्वादेवंरूपत्वस्य ॥ ३८ ॥

तदाह

तेन षट्त्रिंशतो याव-

देकतत्त्वविधिर्भवेत् ॥ ३९ ॥

तत्त्वाध्वैर्व स देवेन

प्रोक्तो व्याससमासतः ।

तेनेति, उक्तेन न्यायेन । प्रोक्त इति सर्वत्रागमे । यदुक्तम्

‘तत्त्वैः षट्त्रिंशतार्धेन तदर्धेनाथ पञ्चभिः ।

स्थितिरेकेन वा कार्या परापरविभूतये ॥’

इति ॥ ३९ ॥

ननु

‘अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।’

इति न्यायेन यद्येकतत्त्वात्मना संक्षिप्तेनैव
प्रकारेण दीक्षा सिद्ध्येत् तत्किमन्यैर्विस्तृतैः
प्रकारैरित्याशङ्क्याह

एकतत्त्वविधिश्चैष

सुप्रबुद्धं गुरुं प्रति ॥ ४० ॥

शिष्यं च गतभोगाश-

मुदितः शंभुना यतः ।

गतभोगाशमिति मुमुक्षुभेवेत्यर्थः ॥ ४० ॥

ननु दीक्षया शिवतत्त्वं नामासाद्यम्,—
इति सर्वत्रोक्तं, तच्चादित एव सिद्धमिति
किमनया व्यस्तया समस्तया वेत्याशङ्क्याह

भेदं विस्फार्य विस्फार्य

शक्त्या स्वच्छन्दरूपया ॥ ४१ ॥

स्वात्मन्यभिन्ने भगवा-

न्नित्यं विश्रमयन् स्थितः ।

एतदेव परमेश्वरस्य परं स्वातन्त्र्यं यदेवं
भेदमवभासयति च दीक्षादिक्रमेणाद्वयैकप-

रमार्थे स्वात्मनि च विश्रमयति, इति । यद-
भिप्रायेणैव प्रागेव

‘प्रतिक्षणं विश्वमिदं स्वसंविदि विलापयन् ।

विसृजंश्च ततो भूयः शश्वद्भैरवतां व्रजेत् ॥’ (तं० ५।३६)

इत्याद्युक्तम् ॥ ४१ ॥

इदानीं प्रकृतमेवोपसंहरन्नन्यद्वतारयति

इत्थं त्र्यात्माध्वनो भेदः

स्थूलसूक्ष्मपरत्वतः ॥ ४२ ॥

मेयभागगतः प्रोक्तः

पुरतत्त्वकलात्मकः ।

अधुना मातृभागस्थं

रूपं त्रेधा निरूप्यते ॥ ४३ ॥

प्रोक्त इत्यष्टमाह्निकात्प्रभृति । त्रेधेति पदम-
न्त्रवर्णगतत्वे स्थूलसूक्ष्मपरत्वेनेत्यर्थः । एतदेव
हि वर्णानां परत्वं यत्स्थूलसूक्ष्मौ पदमन्त्राव-
प्येतद्भ्यासावेव— इति । अत एव चानुजोद्दे-
शोद्दिष्टस्य वर्णभेदक्रमाख्यस्यापि प्रमेयस्याव-
काशो दत्तः ॥ ४३ ॥

तदाह

यत्प्रमाणात्मकं रूप-

मध्वनो मातृभागगम् ।

पदं ह्यवगमात्मत्व-

समावेशात्तदुच्यते ॥ ४४ ॥

तदेव च पदं मन्त्रः

प्रक्षोभात्प्रच्युतं यदा ।

गुप्तभाषी यतो माता

तूष्णींभूतो व्यवस्थितः ॥ ४५ ॥

यन्नाम हि प्रमात्रंशाश्रयणेन प्रमाणात्मकं बाहिर्मुख्यात्प्रक्षुब्धमध्वनो रूपं तत्पदमुच्यते तथागमेऽभिधीयत इत्यर्थः । यतः पद्यते ज्ञायते-ऽनेनार्थः,—इत्यवगमात्मकं पदम्, अध्वनोऽप्यवगमात्मत्वसमावेशात्,—इत्येव प्रमाणात्मकत्वे हेतुः, प्रकाशावेशमन्तरेण हि प्रकाश्यं नाम न किञ्चन प्रकाशेतेत्याशयः । यदा च तदेव पदं प्रमाणात्मकाद्रूपात्प्रच्युतमन्तर्मुखत्वाद्प्रक्षुब्धं रूपमाप्तं तदा प्रमात्रात्मा मन्त्रो, यतोऽसौ प्र-

क्षोभाभावादौदासीन्येनावस्थानात् 'शुभभाषी'
अन्तःपरामर्शात्मक इत्यर्थः । अत एव 'मन्त्र'
इत्यन्वर्थमभिधानमिति भावः ॥ ४५ ॥

नन्वस्य तूष्णींभूतत्वाद्दन्तः परामर्शात्मकत्वे
किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह

तथापि न विमर्शात्म

रूपं त्यजति तेन सः ।

प्रमाणात्मविमर्शात्मा

मानवत्क्षोभभाङ्ग तु ॥ ४६ ॥

मन्त्राणां च पदानां च

तेनोक्तं त्रिकशासने ।

अभिन्नमेव स्वं रूपं

निःस्पन्दक्षोभिते परम् ॥ ४७ ॥

नह्यसौ तूष्णींभूतत्वेऽपि

'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुः' (ई० प्र० १।५।११)

इत्याद्युक्तयुक्त्या विमर्शात्मकतां जहाति,—
इति प्रमाणवदस्यापि विमर्श एव स्वभावो

येनानयोः स्वरूपे न कश्चिद्भेदः । अत एव
वक्ष्यमाणगत्या श्रीपूर्वशास्त्रे पदानां मन्त्राणां
चैकमेव रूपमुक्तम् ; किं त्वयमेवानयोर्विशेषो
यन्मानं क्षुब्धं, माता पुनरक्षुब्ध इति । तदुक्तं
'मानवत्क्षोभभाङ्ग तु' इति, 'निःस्पन्दक्षो-
भिते परम्' इति च ॥ ४७ ॥

एवं स्थूलसूक्ष्मभेदेन पदमन्त्राध्वस्वरूपं
निरूप्य परत्वेन वर्णाध्वानमपि निरूपयति

औदासीन्यपरित्यागे

प्रक्षोभानवरोहणे ।

वर्णाध्वा मातृभागे स्यात्

पूर्वं या कथिता प्रमा ॥ ४८ ॥

सा तु पूर्णस्वरूपत्वा-

द्विभागमयी यतः ।

इह परिमितप्रमातृदशाधिशायिनीमुदासी-
नतां परित्यजन्ती प्रमाणसमुचितं क्षुब्धं रूपं
चानवरूढा, — इत्यर्थात्पूर्णतारूपा या प्रमितिः
पूर्वमुक्ता सैव प्रमात्रंशाश्रयणेन वर्णाध्वा स्यात्,
यदियं दशा स्वात्ममात्रविश्रान्त्या क्षोभोपश-

मान्मातृमानादिगर्भीकारेण तदविभिन्नस्वभा-
वेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

अत एवात्र पद्मन्नक्रोडीकारसहिष्णुतयैव
वर्णाध्वनो निर्देशः, — इत्याह

तत एकैकवर्णत्वं

तत्त्वे तत्त्वे क्षमादितः ॥ ४९ ॥

कृत्वा शैवे परे प्रोक्ताः

षोडशार्णा विसर्गतः ।

पूर्णत्वादेव चास्या दशायाः क्षित्यादितत्त्वच-
तुच्चिशतौ क्षकारात्प्रभृति एकमेव वर्णं योजयि-
त्वा 'परे' पूर्णत्वाद्द्वयापकतयाभिमतेऽर्थात् सश-
क्तिके 'शैवे' शिवाख्ये षट्त्रिंशे तत्त्वे संहारप्र-
क्रमस्याध्वशुद्धावुचितत्वात् विसर्गादारभ्यानु-
लोम्येनाकारपर्यन्तं स्वरषोडशकमुक्तम् ॥ ४९ ॥

ननु यदि नाम निर्विभागपरिपूर्णसंविदा-
त्मिका सा दशा, कुतस्त्योऽयं विभागः, —
इत्याशङ्क्याह

तत्र शक्तिपरिस्पन्द-

स्तावान् प्राक् च निरूपितः ५०

यश्चायं षोढाध्वविभागः स पूर्वस्तच्छक्तिपरि-
स्पन्द एवेत्युक्तं प्राग्बहुशः । तस्येति संबन्ध-
मात्रे वाच्ये तत्रेति सप्तम्या तद्भित्तिलग्नत्व-
मेवावेदितम् ॥ ५० ॥

एतदेव संकलयितुं प्रतिजानीते

संकलय्योच्यते सर्व-

मधुना सुखसंविदे ।

सर्वमिति षडध्वजातम् ॥

तदेवाह

पद्मन्त्रवर्णमेकं

पुरषोडशकं धरेति च निवृत्तिः ।

तत्त्वार्णमग्निनयनं

रसशरपुरमस्त्रमन्त्रपद्मन्या ॥ ५१ ॥

मुनितत्त्वार्णं द्विकपद्-

मन्त्रं वस्वक्षिभुवनमपरकला ।

अष्ट्यर्णतत्त्वमेकक-

पद्मन्त्रं सैन्यभुवनमिति तुर्या ॥ ५२ ॥

षोडश वर्णाः पदमन्त्र-

तत्त्वमेकं च शान्त्यतीतेयम् ।

अभिनवगुप्तेनार्या-

त्रयमुक्तं संग्रहाय शिष्येभ्यः ॥५३॥

पदमन्त्रवर्णमिति समाहारः। एकमिति क्षकार-
रूपम् । पुरषोडशकमिति कालाद्यादिवीर-
भद्रान्तम् । भुवनविभागश्चायमष्टमाह्निकान्ते,

‘श्रीपूर्वशासने पुनरष्टादशाधिकं शतं कथितम् ।

तदिह प्रधानमधिकं संक्षेपेणोच्यते शोध्यम् ॥’ (८।४।३६)

इत्यादिना सिद्धान्ततयोक्त इति तत एवा-
त्रानुसंधेयः किं तत्संवादग्रन्थगौरवेण । नि-
वृत्तिरिति, येह धारिकेत्युक्ता । ‘अग्नयः’
त्रयः ‘नयने’ द्वे, तेनावादीन्यव्यक्तान्तानि
तत्त्वानि, हादिङान्ता वर्णाश्च त्रयोविंशतिः ।
‘रसाः’ षट्, ‘शराः’ पञ्च । एवं षट्पञ्चाशत्
पुराणि । ‘अस्त्राणि’ शराः पञ्च, तेन द्वे चतु-
रक्षरे, त्रीणि पञ्चाक्षराणि, इति पञ्च पदानि
मन्त्राश्च । अन्येति, आप्यायिन्यपरपर्याया
प्रतिष्ठा । मुनीति सप्त, तेन पुमादिमाया-

न्तानि तत्त्वानि जादिघान्ताश्च वर्णाः । द्विकेति,
 तेन पञ्चाक्षरमेकं द्व्यक्षरं द्वितीयं चेति पदे
 मत्रौ च । 'वसवः' अष्टौ 'अक्षिणी' द्वे, तेना-
 ष्टाविंशतिर्भुवनानि । अपरकलेति, बोधिन्य-
 परपर्याया विद्या । 'अग्नयः' त्रयः, तेन गखका
 वर्णा विद्येश्वरसदाशिवाश्च तत्त्वानि । एक-
 केति, तेन त्र्यक्षरं पदं मत्रश्च । 'सैन्यानि'
 अक्षौहिण्योऽष्टादश । तुर्येति, उत्पूयिन्यपर-
 पर्याया शान्ता । षोडशेति, विसर्गाद्यका-
 रान्ताः । स्वरषोडशकात्मकमेवैकं पदं मत्रश्च ।
 तत्त्वमिति, शिवाख्यं षट्त्रिंशं, तच्च सशक्ति-
 त्वेऽपि प्राधान्यादेकं, शक्तिर्हि न शक्तिमतो
 भिन्ना भवितुमर्हति, — इति भावः । वस्तु-
 तस्तु व्यापकतयाभिमतं तत्त्वद्वयमेव, यदभि-
 प्रायेणैव श्रीपूर्वशास्त्रे

'षट्त्रिंशत्तत्त्वभेदेन न्यासोऽयं समुदाहृतः ।' (मा०वि०६।६)
 इत्युक्तम् । शान्त्यतीतायां च भुवनानि न
 संभवन्ति, — इति नात्र तन्निर्देशः । यदुक्तम्

‘.....शान्त्यतीता त्वभुवनैव ।' (८।४५२).

इति । एवमप्यधिकृत्य पदवर्णविभागो म-
 न्तव्यः । एवमष्टादशोत्तरं शतं भुवनानि,

षट्त्रिंशत्तत्त्वानि, पञ्च कलाः, दश पदानि,
तावन्त एव मन्त्राः, पञ्चाशद्दर्णाश्चेति षोढाध्वा,—
इति पिण्डार्थः । तदुक्तम्

‘आद्यं धारिकया व्याप्तं तत्रैकं तत्त्वमिष्यते ।
एकमेकं पृथक् क्षार्णं पदार्णमनुषु स्मरेत् ॥
कालाग्निभुवनाद्यावद्दीरभद्रपुरोत्तमम् ।
पुरषोडशकं ज्ञेयं षड्विधोऽध्वा प्रकीर्तितः ।
आप्यायिन्या द्वितीयं च तत्र तत्त्वानि लक्षयेत् ।
त्रयोविंशत्यबादीनि तद्वद्वाद्यक्षराणि च ॥
पदानि पञ्च मन्त्राश्च षट्पञ्चाशत्पुराणि च ।
तत्त्वानि सप्त बोधिन्या तत्तुर्धा पुराणि च ॥
तृतीये सप्त वर्णाः स्युः पदमत्रद्वयद्वयम् ।
उत्पूयिन्या चतुर्थं तु तत्र तत्त्वत्रयं विदुः ॥
वर्णत्रयं मन्त्रमेकं पदमेकं च लक्षयेत् ।
अष्टादश विजानीयाद्भुवनानि समासतः ॥
शिवतत्त्वं परं शान्तं कला तत्रावकाशदा ।
स्वरषोडशकं मन्त्रं पदं चैकं विलक्षयेत् ॥
इत्येवं षड्विधोऽप्यध्वा समासात्परिकीर्तितः ।’

(मा० वि० २।५७)

इति । अभिनवगुप्तेति स्वनामोदीरणस्यायमाश
यो—यदेतावत्प्रमेयजातं विस्तरितुमिव संग्रही
तुमप्यनन्यसाधारणं समैव परं प्रावीण्य
मिति ॥ ५३ ॥

ननु पारमेश्वरः शक्तिपरिस्पन्द एव षोढाध्वा
इति प्राङ्निरूपितं, तत्कथमिदानीं तत्त्वभुवना-
दितया बहीरूपत्वेनापि तस्य स्वरूपमुक्तम्,—
इत्याशङ्क्याह

सोऽयं समस्त एवाध्वा
भैरवाभेदवृत्तिमान् ।

तत्स्वातञ्ज्यात्स्वतन्त्रत्व-
मश्रुवानोऽवभासते ॥ ५४ ॥

यद्यपि वस्तुतः समस्तोऽयमध्वा पूर्णप्रका-
शाभिन्न एव तथापि तदिच्छयैव तदतिरि-
क्तायमानतया स्वातञ्ज्येण प्रस्फुरेद्देयेनास्य बही-
रूपतयावभासः ॥ ५४ ॥

ननु कलाद्यध्वा मेयभागगतत्वाद्बहिः स्वा-
तञ्ज्येणावभासतां नाम, मन्त्राद्यध्वा पुनः प्रमा-
तृभागगतः,—इति कथमस्य तथाभावः स्या-
दित्याशङ्क्याह

तथाहि मातृरूपस्थो
मन्त्राध्वेति निरूपितः ।

मन्त्राद्यध्वा हि प्रमातृभागगतोऽपि तथा
स्वतन्त्र एव, — इत्येवं समस्त एवाध्वायमविशे-
षेण निरूपितः समनन्तरमेवोक्त इत्यर्थः ॥

नन्वयं मन्त्राद्यध्वा प्रमातृभागगतश्च स्वा-
तन्त्र्येणावभासेत चेति विप्रतिषिद्धमेतत्, —
इत्याशङ्क्यैतदेवोपषादयति

तथाहि चिद्विमर्शेन

ग्रस्ता वाच्यदशा यदा ॥ ५५ ॥

शिवज्ञानक्रियायत्त-

मननत्राणतत्परा ।

अशेषशक्तिपटली-

लीलालाम्पट्यपाटवात् ॥ ५६ ॥

च्युता मानमयाद्रूपात्

संविन्मन्त्राध्वतां गता ।

यदा हि चेतनव्यापारमयप्रमाणरूपेण विम-
र्शनेन बाह्यमर्थजातं स्वात्मसात्कृतं तदा नि-
खिलस्य चक्षुरादीन्द्रियवृत्तिस्वभावस्य शक्तिनि-

कुरम्बकस्य या 'लीला' बहिःप्रसरणं तत्र 'लाम्प-
द्व्यात्' औत्सुक्यात् यदौन्मुख्यात्मकं पाटवमेवं-
विधात् क्षुब्धान्मानमयाद्रूपादवरूढा, अत एव
शिवस्य

'विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः ।'

(ई० प्र० १।८।११)

इत्यादिनीत्या स्वातन्त्र्यमात्ररूपयोर्ज्ञानक्रिययो-
रायत्तं तदेकपरमार्थं यन्मननमिदमिति परा-
मर्शः, तथा त्राणमिदंपरामर्शविश्रान्तिभूरहन्ता-
परामर्शस्तत्र तत्परा बहिरौन्मुख्यविरमात्तदेक-
विश्रान्ता संकुचितप्रमातृरूपा संविन्मन्त्राध्वतां
गता तन्मयतया प्रस्फुरितेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

द्विविधं हि संविदः परिस्फुरणं क्षुब्धमक्षुब्धं
च । तत्राक्षुब्धतायामस्याः प्रमातृत्वे मन्त्राध्व-
त्वम्, अन्यथा पुनः प्रमाणत्वे पदाध्वत्वम्,
तदाह

प्रमाणरूपतामेत्य

प्रयात्यध्वा पदात्मताम् ॥ ५७ ॥

एतदेवोपपादयति

तथा हि मातुर्विश्रान्ति-

वर्णान्संघट्य तान्बहून् ।

प्रमाता हि वदकषादीननेकान्वर्णान् संक्षोभ्य
तत्तत्पदनिष्पत्त्या तं तमर्थमधिगच्छेत् येनास्य
स्वात्मनि क्षोभोपरमः स्यात् ॥

ननु संघट्टने वर्णानामेव क्षोभः स्यान्न
प्रमातुरिति कस्तस्य तदुपरमार्थः, - इत्याश-
ङ्क्याह

संघट्टनं च क्रमिकं

संजल्पात्मकमेव तत् ॥ ५८ ॥

विकल्पस्य स्वकं रूपं

भोगावेशमयं स्फुटम् ।

अतः प्रमाणतारूपं

पदमस्मद्गुरुर्जगौ ॥ ५९ ॥

क्रमिकमिति पूर्वापररूपत्वाद्वाचः, अत एव
'तत्पूर्वजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णो वाचकः'
इति भङ्ग्या संधाय जल्पनात्संजल्पात्मकमित्यु-

क्तम् । विनानुसंधानमेव पदसंपत्त्यभावात्
 क्रमिकैर्वर्णैः क इवार्थाधिगमो भवेदिति भावः ।
 एतदेव च 'शब्दसंसर्गयोग्यार्थप्रतीतिः कल्पना'
 इत्यादिनीत्या विकल्पस्य तात्त्विकं रूपमित्याह
 विकल्पस्य स्वकं रूपमिति । नन्वेवमपि प्रमातुः
 कः क्षोभः,—इत्याशङ्क्याह स्फुटं भोगावेश-
 मयमिति, तत्तदर्थानुभवोदितसुखदुःखादिवे-
 दनात्मकमित्यर्थः । 'अतः' इति भोगावेशमय-
 त्वेन प्रमातृक्षोभरूपत्वात् ॥

इह वाचकतया साजात्येन वर्णाध्वनः
 प्रसङ्गेऽपि

'ज्ञानं न जायते किञ्चिदुपष्टम्भनवर्जितम् ।'

इत्यादिनीत्या प्रमेयमन्तरेण प्रमाणतैव न
 भवेत्,—इत्येतदानन्तर्येण प्रमेयभागस्थं क-
 लाद्यध्वत्रयमभिधत्ते । तत्रापि मेयस्य मानरू-
 पतावेशे कलाध्वत्वम्, अन्यथा तु सूक्ष्मत्वे
 स्थूलत्वे च तत्त्वाध्वत्वं भुवनाध्वत्वं चेत्याह

प्रमाणरूपतावेश-

मपरित्यज्य मेयताम् ॥ ६० ॥

गच्छन्कलनया योगा-

दध्वा प्रोक्तः कलात्मकः ।

शुद्धे प्रमेयतायोगे

सूक्ष्मस्थूलत्वभागिनि ॥ ६१ ॥

तत्त्वाध्वभुवनाध्वत्वे

क्रमेणानुसरेद्गुरुः ।

कलनयेति, कलना हि विकल्पनं तदेव च प्रमाणसतत्त्वम्, - इत्युक्तं प्राग्बहुशः । 'शुद्ध' इति प्रमाणतावेशशून्य इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

एवं प्रमातृप्रमाणप्रमेयानन्तरं तत्संबन्ध-
निबन्धनं प्रमाणफलरूपं वर्णाध्वानं वक्तुमु-
पक्रमते

प्रमेयमानमातृणां

यद्रूपमुपरि स्थितम् ॥ ६२ ॥

प्रमात्मात्र स्थितोऽध्वायं

वर्णात्मा दृश्यतां किल ।

उपरि स्थितमिति, प्रमेयादीनां त्रयाणामपि
विश्रान्तिधामेत्यर्थः ॥ ६२ ॥

तदेवाह

उच्छलत्संविदामात्र-

विश्रान्त्यास्वादयोगिनः ॥ ६३ ॥

सर्वाभिधानसामर्थ्या-

दनियन्त्रितशक्तयः ।

सृष्टाः स्वात्मसहोत्थेऽर्थे

धरापर्यन्तभागिनि ॥ ६४ ॥

आमृशन्तः स्वचिद्भूमौ

तावतोऽर्थानभेदतः ।

वर्णौघास्ते प्रमारूपां

11354

सत्यां विभ्रति संविदम् ॥६५॥

इह खलु

‘अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहतक्रमा ।

स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥’ (वा० प०)

इत्यादिनीत्या क्रमस्यानुन्मीलनात्परस्परमना-

सादितविभागवर्णौघा भगवता स्वचिद्रूमौ
 पश्यन्त्यात्मनि शुद्धविद्यादशायां मायादिध-
 रान्ते स्वाविभिन्ने वाच्यरूपतत्तत्त्वाद्यात्मन्यर्थे
 सति तावतो धरान्तानेवार्थानभेदेनामृश-
 न्तोऽहन्ताच्छादितेदन्तापरामर्शसाराः सन्तः
 'सृष्टाः' समुल्लासिता इत्यर्थः । नन्वेषां प्रति-
 नियतार्थविषयमेव वाचकत्वं दृश्यते न सर्वा-
 र्थविषयमिति किमेतदुक्तम्, — इत्याशङ्क्याह
 सर्वाभिधानेत्यादि । यदभिप्रायेण वैयाकरणै-
 रपि 'सर्वः शब्दः सर्वार्थप्रतिपादनशक्तियुक्त'
 इत्याद्युक्तम् । सर्वाभिधानसामर्थ्येऽपि किं निमि-
 त्तमित्युक्तम् उच्छलदित्यादि । परस्यां हि सं-
 विदि सर्वभावनिर्भरत्वात्सर्वमस्ति, — इत्यभि-
 प्रायः । त एव च वर्णाः प्रमारूपां प्रमात्रादित्रय-
 विश्रान्तिमयीं पारमार्थिकीं संविदं 'विभ्रति'
 पुष्णन्ति तन्मयतयैव प्रस्फुरन्तीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

ननु शब्दार्थव्युत्पत्तिबालिशानां बालादी-
 नामपि संभवत्येव प्रमेति कथमेतदुक्तं 'वर्णा
 एव विभ्रति, — इत्याशङ्क्याह

बालास्तिर्यक्प्रमातारो

येऽप्यसंकेतभागिनः ।

तेऽप्यकृत्रिमसंस्कार-

सारामेनां स्वसंविदम् ॥ ६६ ॥

भिन्नभिन्नामुपाश्रित्य

यान्ति चित्रां प्रमातृताम् ।

अकृत्रिमसंस्कारसारामिति, स्वारसिकपरा-
मर्शपरमार्थामित्यर्थः । ननु चिदेकस्वभावनि-
र्विभागसहजपरामर्शसारप्रमाश्रयणे बालतिर्य-
गादीनामव्युत्पत्तिविशेषेऽपि कथंकारं परस्परं
प्रमातृतायां वैचित्र्यं स्यात्, -इत्याशङ्क्योक्तं
भिन्नभिन्नामिति, स्वस्वातन्त्र्यमायानुबेधोपरत-
संकोचामित्यर्थः । [यदुक्तम्]

‘व्यवहाराः प्रतायन्ते तिरश्चामपि तद्वशात् ।’

इति ॥ ६६ ॥

न केवलमियमसंकेतभाजां बालादीनामेव
विचित्रायां प्रमातृतायां निबन्धनं यावत्संके-
तभाजां व्युत्पन्नानामपीत्याह

अस्या चाकृत्रिमानन्त-

वर्णसंविदि रूढताम् ॥ ६७ ॥

संकेता यान्ति चेत्तेऽपि

यान्त्यसंकेतवृत्तिताम् ।

अस्यां समनन्तरोक्तस्वरूपायामकृत्रिमा स्वयमगृहीतसंकोचात् एवानन्ता येयं वर्णसंवित् तस्यां विमर्शशक्तिसारायामावापोद्वापपरिगृहीतान्वयव्यतिरेकहेतुकाः शब्दार्थसंयोजना-त्मानः 'संकेता अपि रूढतां' विश्रान्तिं यदा यान्ति तदा ते संकेता एवासंकेतवृत्तितां यान्ति ।

'शब्दे वाचकशक्तिश्च नित्यैवाग्नाविवोष्णता ।'

इत्यादिनीत्या संकेतसमयविलक्षणविमर्शसार-शक्तिरूपसंबन्धात्मकतया वस्तुस्पृशो भवन्ती-त्यर्थः । अपिभिन्नक्रमः ॥ ६७ ॥

एतदेव व्यतिरेकद्वारेणाप्युपपादयति

अनया तु विना सर्वे

संकेता बहुशः कृताः ॥ ६८ ॥

अविश्रान्ततया कुर्यु-
 रनवस्थां दुरुत्तराम् ।
 बालो व्युत्पाद्यते येन
 तत्र संकेतमार्गणात् ॥ ६९ ॥

अनया समनन्तरोक्तया संविद्रूढतया विना
 हि विश्रान्तिमलभमाना बहुशः कृता अपि
 'वृक्षस्तरुः शाखी' इत्यादयः सर्वे संकेताः 'शब्दैरे-
 व शब्दान् व्याचष्टे' इति भङ्ग्या दुरुत्तरामनवस्थां
 कुर्युः, संकेतान्तरमार्गणं न विरमेदित्यर्थः ।
 यतो येन येन संकेतेन बालो व्युत्पाद्यते
 तत्र 'को वृक्षस्तरुः शाखी' इत्यादिवत्संकेतान्तरं
 मृग्यत एवेति ॥ ६९ ॥

नन्वस्य किं संकेतान्तरमार्गणेनाङ्गुल्यादि-
 निर्देशेन व्युत्पत्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह

अङ्गुल्यादेशनेऽप्यस्य
 नाविकल्पा तथा मतिः ।

विकल्पः शब्दमूलश्च

शब्दः संकेतजीवितः ॥ ७० ॥

अस्य व्युत्पाद्यमानस्य बालादेः 'घटोऽयम्'

इत्यङ्गुल्या निर्दिश्यमाने पुरोवर्तिन्यर्थे तथा
वाच्यवाचकभावलक्षणा मतिर्घटशब्दवाच्योऽ-
यमिति शब्दानुवेधादविकल्पा तावन्न भवेत् ।

‘अथ चेत्सविकल्पा तद्विकल्पाः शब्दयोनयः ।’

इत्यादिनीत्या विकल्पस्तावच्छब्दमूलः शब्दश्च
संकेतैकपरमार्थः, — इति संकेतान्तरापेक्षाया-
मनवस्थावश्यमापतेत् ॥ ७० ॥

अतश्च संवित्परामर्शसारः शुद्धविद्यात्मा
संकेतानपेक्षो वर्णग्राम एव विश्रान्तिस्थानत-
याभ्युपगन्तव्यो येनानवस्था शाम्येदित्याह

तेनानन्तो ह्यमायीयो

यो वर्णग्राम ईदृशः ।

संविद्धिमर्शसचिवः

सदैव स हि जृम्भते ॥ ७१ ॥

‘ईदृशः’ इति संकेतादिनिरपेक्षः । सदैवेति,
कृत्रिममायीयवर्णव्यवहरणावसरेऽपीत्यर्थः । इह
हि या काचन प्रमा समुल्लसति तत्रावश्यमिद-
मित्थमिति वर्णसंभेदेन भाव्यमिति भावः ॥७१॥

ननु प्रमासु प्रतिषिद्धा एव मायीया वर्णाः
संभेदकतयावभासन्ते, — इति किं नाम मायी-
यैरलौकिकैर्वर्णैः प्रयोजनमित्याशङ्क्याह

यत एव च मायीया
वर्णाः सूतिं वितेनिरे ।

ये च मायीयवर्णेषु
वीर्यत्वेन निरूपिताः ॥ ७२ ॥

संकेतनिरपेक्षास्ते

प्रमेति परिगृह्यताम् ।

निरूपिता इति, श्रीपूर्वशास्त्रादौ । यदुक्तं तत्र

‘या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।’

इत्यादि पीठिकाबन्धं कृत्वा

‘तत्र तावत्समापन्ना मातृभावं विभिद्यते ।’

इत्याद्युपक्रम्य

‘स तथा संग्रबुद्धः सन्योनिं विक्षोभ्य शक्तिभिः ।

तत्समानश्रुतीन् वर्णास्तत्संख्यानसृजत् प्रभुः ॥

तैस्तैरालिङ्गिताः सन्तः सर्वकामफलप्रदाः ।

भवन्ति साधकेन्द्राणां नान्यथा वीरवन्दिते ॥’

(मा० वि० ३।२८)

इति । ‘ते’ इत्यमायीया वर्णाः । परिगृह्यता-

मिति, अन्यथा हि प्रागुक्तवदनवस्थोपनिपा-
तात्प्रमोत्पाद एव न स्यात्, -इत्यनेन मूक-
प्रायं विश्वं भवेदिति भावः ॥ ७२ ॥

एतदेव निदर्शयति

तथा हि परवाक्येषु

श्रुतेष्वत्रियते निजा ॥ ७३ ॥

प्रमा यस्य जडोऽसौ नो

तत्रार्थेऽभ्येति मातृताम् ।

श्रुतेष्वपि हि परवाक्येषु यस्य तद्विषया निजा
प्रमात्रियते आवृता भवति, अनवधानादिना
परवाक्याद्यवगन्तुं नोत्सहते; अत एव स
जडस्तत्रार्थे प्रमातृतां नाभ्येति, तदर्थाधि-
गन्ता न भवेदित्यर्थः ॥ ७३ ॥

नन्वस्य परवाक्यादौ तत्पाठान्यथानुपप-
त्यास्त्येवागमः, -इति किं नाम सुप्रमाणमि-
त्याशङ्क्याह

शुकवत्स पठत्येव

परं तत्क्रमितैकभाक् ॥ ७४ ॥

स्वातन्त्र्यलाभतः स्वाक्य-

प्रमालाभे तु बोद्धृता ।

स खल्वावृतप्रमितिर्जडस्तेषां परवाक्याना
क्रमिकतामेवैकां भजमानः शुकवदार्थात्
परवाक्यादि पठत्येव, केवलं तद्विषया बोद्धृता
पुनरस्य स्वकैव स्वाक्या येयं प्रमा तस्या लाभे
सति, तत्रैव कर्तृतात्मनः स्वातन्त्र्यस्य लाभा-
द्भवेदिति वाक्यशेषः ॥ ७४ ॥

न केवलमस्यैवं प्रमालाभे परकीय एव
वाक्यादौ बोद्धृत्वं भवेद्यावत्स्वकीयेऽपि कर्तृ-
त्वमित्याह

यस्य हि स्वप्रमाबोधो

विपक्षोद्भेदनिग्रहात् ॥ ७५ ॥

वाक्यादिवर्णपुञ्जे स्वे

स प्रमाता वशीभवेत् ।

यस्य हि प्रमातुरनवधानाद्यात्मनां 'विपक्षा-
णामुद्भेदस्य' प्रथमोल्लासस्यापि 'निग्रहात्' उ-
न्मूलनात् स्वप्रमा प्रबुद्धा भवेत् स स्वे महा-

वाक्यादिरूपे वर्णपुञ्जे वशीभवेत्, स्वयमपि
तत्तद्वर्णारब्धं वाक्यादि निर्मातुं स्वतन्त्रः
स्यादित्यर्थः ॥ ७५ ॥

ननु यद्येवं तत्प्रमाबोधस्याविशेषेऽपि कस्मात्
केचित्प्रमातारो वाक्याद्येव कुर्वते परे शास्त्रा-
द्यपि, — इत्याशङ्क्याह

यथा यथा चाकृतकं
तद्रूपमतिरिच्यते ॥ ७६ ॥

तथा तथा चमत्कार-
तारतम्यं विभाव्यते ।

तद्रूपमिति, तच्छब्देन प्रमाबोधपरामर्शः ।
चमत्कारेति, उत्तरोत्तरं वाक्यादिनिर्माणकर्तृ-
तातिशय इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

ननु च प्रमा नामानवच्छिन्नसहजपरामर्श-
मयी, — इति तस्याः प्रबोधः सर्वतोमुख एव
भवेन्नांशांशिकया, — इति कथमुक्तं 'यथायथं
तद्रूपमतिरिच्यते' इतीत्याशङ्क्याह

आद्यामायीयवर्णान्त-

निमग्ने चोत्तरोत्तरे ॥ ७७ ॥

संकेते पूर्वपूर्वांश-

मज्जने प्रतिभाभिदः ।

इह खलु बालादीनां प्रथमसंकेतादारभ्य यथापूर्वनिवेशिनि संविद्विमर्शबाह्यप्रसराभिप्रायेणोत्तरोत्तरे संकेते तदन्तर्विश्रान्त्यभिप्रायेण पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्संकेतात्मन्यंशोऽर्थादुत्तरोत्तरस्य 'मज्जने' तादात्म्ये सति, आद्यानां निखिलसंकोचविश्रान्तिभूतानां शुद्धविद्यात्मनां वर्णानामन्तः स्वात्मनि निःशेषेण 'मग्ने' तदेकमयतामापन्ने 'प्रतिभायाः प्रमाप्रबोधस्य 'भिदो' विशेषास्तारतम्यरूपं वैचित्र्यमित्यर्थः ॥ ७७ ॥

अत एव सर्वतोमुखं कवित्वं वक्तृत्वादावप्रतिहतः प्रसरोऽपि कदाचिद्भवेदित्याह

आद्योद्रेकमहत्त्वेऽपि

प्रतिभात्मनि निष्ठिताः ॥ ७८ ॥

ध्रुवं कवित्ववक्तृत्व-
शालितां यान्ति सर्वतः ।

‘आद्योद्रेकमहत्त्वे’ इति, ‘आद्येन’ प्राथमिकेन
‘उद्रेकेण’ उच्छलत्तया महत्त्वं यस्य तस्मिन्
परसंविद्धामसविधवर्तिनीत्यर्थः ॥ ७८ ॥

परधाराधिरोहे पुनः सर्वज्ञानक्रियायोग
एव स्यादित्याह

यावद्दामनि संकेत-
निकारकलनोज्झिते ॥ ७९ ॥

विश्रान्तश्चिन्मये किं किं
न वेत्ति कुरुते न वा ।

अतश्चागमोऽप्येवमित्याह

अत एव हि वाक्सिद्धौ
वर्णानां समुपास्यता ॥ ८० ॥

सर्वज्ञत्वादिसिद्धौ वां
का सिद्धिर्या न तन्मयी ।

अतः परामर्शसारत्वादेव वर्णानां वाक्सि-

द्धिनिमित्तं विद्येश्वरत्वाद्यापत्तिनिमित्तं च समु-
पास्यता श्रीपूर्वशास्त्रादावुक्तेत्यर्थः । यदुक्तं तत्र

‘भूयोऽपि समुदायेन वर्णभेदश्च कीर्त्यते ।
स्त्रीरूपां हृदि संचिन्त्य सितवस्त्रादिभूषिताम् ॥
नाभिचक्रोपविष्टां तु चन्द्रकोटिसमप्रभाम् ।
बीजं यत्सर्वशास्त्राणां तत्तदा स्यादनारतम् ॥
स्वकीयेनैव वक्त्रेण निर्गच्छत्प्रविचिन्तयेत् ।
तारहारलताकारं विस्फुरत्किरणाकुलम् ॥
वर्णैस्तारकसंकाशैरारब्धममितद्युति ।
मासार्धाच्छास्त्रसंघातमुद्गिरत्यनिवारितम् ॥
स्वप्ने मासात्समाधिस्थः षड्भिर्मासैर्यथेच्छया ।
उच्छिन्नान्यपि शास्त्राणि ग्रन्थतश्चार्थतोऽपि च ॥
जानाति वत्सराद्योगी यदि चिन्मयतां गतः ।
अनुषङ्गफलं चैतत्समासादुपवर्णितम् ॥
विद्येश्वरसमानत्वसिद्धिरन्याश्च सिद्धयः ।’

(मा० वि १९।५५)

इति । आदिशब्दाद्दृश्यादिसिद्धिस्वीकारः ।

तदुक्तं तत्र

‘अथवा योजयेत्कश्चिदेनां वश्यादिकर्मसु ।
तदा प्रसाधयत्याशु साधकस्य समीहितम् ॥
उदितादित्यवर्णानां [भां] समस्ताक्षरपद्धतिम् ।’

(मा० वि० १९।६१)

इति । ननु समुपास्यमानानां वर्णानां वाक्-

सिद्ध्यादिनिमित्तत्वमुचितम्, — इत्यास्तामेतत्, वश्यादिसिद्धिसाधकत्वं पुनरेषां कथंकारं संगच्छताम्, — इत्याशङ्क्योक्तं का सिद्धिर्या न तन्मयीति ॥ ८० ॥

अत एव च

‘ये च मायीयवर्णेषु वीर्यत्वेन निरूपिताः ।’

(तं० ११।७३)

इत्यादिनीत्या मायीयवर्णानां परामर्शमात्र-
सारा एते वर्णा वीर्यत्वेनावश्यमुपगन्तव्याः,
अन्यथा हि ते लिपिसंनिवेशकल्पा न कांचन
सिद्धिं विदध्युरित्यागमसंवादेन द्रढयति

तदुक्तं वरदेन श्री-

सिद्धयोगीश्वरीमते ॥ ८१ ॥

तेन गुप्तेन गुप्तास्ते

शेषा वर्णास्त्विति स्फुटम् ।

तदेवाह तेनेत्यादि । तेनेति, संवित्परामर्श-
मात्ररूपेण वीर्येणेत्यर्थः । ‘गुप्ताः’ इति प्रच्छ-
न्ननिजात्मानः । तदुक्तं तत्र

‘दृष्ट्वा संस्कारविरहं मनुजानां समन्ततः ।
 विभेदं समयानां च कृतवन्तो नराधमाः ॥
 सर्वेषामेव मन्त्राणामतो वीर्यं प्रगोपितम् ।
 तेन गुप्तेन ते गुप्ताः शेषा वर्णास्तु केवलाः ॥
 गुप्तवीर्या महादेवि विधिनापि प्रयोजिताः ।
 तेनैते न प्रसिद्ध्यन्ति जप्ताः कोटिशतैरपि ॥’

इति ॥ ८१ ॥

तदेवोपसंहरति

एवं मामातृमानत्व-

मेयत्वैर्योऽवभासते ॥ ८२ ॥

षड्विधः स्ववपुःशुद्धौ

शुद्धिं सोऽध्वाधिगच्छति ।

स्ववपुःशुद्धाविति, ‘स्वस्य’ असाधारणस्य
 कलाद्यात्मनः स्वरूपस्य ‘शुद्धौ’ भोगासङ्गमा-
 लिन्यविनिवृत्तावित्यर्थः ॥ ८२ ॥

ननु यद्येवं तत्प्रतिदीक्ष्यं साक्षात्षड्विधोऽ-
 प्यध्वा किं शोध्य उत न, — इत्याशङ्क्याह

एकेन वपुषा शुद्धौ

तत्रैवान्यप्रकारताम् ॥ ८३ ॥

अन्तर्भाव्याचरेच्छुद्धि-

मनुसंधानवान् गुरुः ।

एकेनेति कलादिमध्यादन्यतमेन । शुद्धा-
विति कर्तव्यायाम् ॥ ८३ ॥

एवमप्यशक्तौ क्रमान्तरमस्ति, — इत्याह

अनन्तर्भावशक्तौ तु

सूक्ष्मं सूक्ष्मं तु शोधयेत् ॥८४॥

तद्विशुद्धं बीजभावात्

सूते नोत्तरसंततिम् ।

सूक्ष्ममिति, पेलवं कारणमित्यर्थः । यथा
वाचकाध्वनो वर्णाः, वाच्याध्वनश्च कलाः ॥८४॥

ननु शोध्यस्य षड्विधस्याप्यध्वनः का नाम
शुद्धिरित्याशङ्क्याह

शोधनं बहुधा तत्त-

द्भोगप्राप्त्येकतानता ॥ ८५ ॥

तदाधिपत्यं तत्यागै-

स्तच्छिवात्मत्ववेदनम् ।

तल्लीनता तन्निरासः

सर्वं चैतत्क्रमाक्रमात् ॥ ८६ ॥

तत्तद्भोगप्राप्त्येकतानतेति तस्य तस्य दीक्ष्य-
तया संमतस्य अणोः

‘अर्जिते सति भोक्तव्यो भोगो दुःखसुखात्मकः ॥’ (ख०४।१२०

इत्यादिनीत्या प्राक्कर्मार्जितस्य सुखदुःखा-
त्मनो भोगस्य या ‘प्राप्ति’र्भोग्यता तत्रैकतानता

‘प्राक्कर्मवासनाशेषफलभोग्यत्वहेतवे ।’ (ख०४।११४)

इति । तथा

‘भिन्नदेहा विसृज्यन्ते गर्भे वागीशियोनिषु ।’ (ख०४।११५)

इत्यादिनीत्या तद्भोग्यत्वसंपत्तये तत्तद्देहसृ-
ष्टिद्वारेण जन्मपरिग्रहे दाढ्यमित्यर्थः । तदा-

धिपत्यमिति, तस्य दीक्ष्यस्याणोर्भोगे ‘आधि-
पत्यम्’ अधिकारः । तत्त्याग इति, तस्या-

णोर्भोगविषयः ‘त्यागः’ समाप्तिरुपभोगद्वारेण
निःशेषीकरणात्मा निष्कृतिः । यदुक्तम्

‘विषया भुवनाकारा ये केचिद्भोग्यरूपिणः ।

भुक्तकर्मफलाशेषा निष्कृतिस्तेन सा स्मृता ॥’ (ख० ४।१२५)

इति । तच्छ्रुत्वात्मत्ववेदनमिति, तस्याणोः

‘शुद्धतच्चाग्रसंस्थं तच्चैतन्यं कनकप्रभम् ।’ (ख० ४।१३३)

इत्याद्युक्त्या तत्तदावरणविगमाच्छ्रेयोरूपं निर्म-

लात्मत्वेन 'वेदनम्' अस्य शोधितादधस्तनाद-
ध्वन उच्चार इत्यर्थः । तल्लीनतेति, तस्य भोगे
लीनता परप्रीत्यात्मविश्रान्तिसतत्वो लयः ।
यदुक्तम्

'लयः परमया प्रीत्या सुखदुःखात्मकेऽप्यलम् ।'

(स्व० ४।१२०)

इति । तन्निरास इति, तस्य भोगान्निरासः
पुनर्भोगैरसंबन्धो भोक्तृत्वाभावात्मा विश्लेषः ।
यदुक्तम्

'विश्लेषो निष्कृतिर्भोगाद्भोगाभावे स हि स्मृतः ।'

(स्व० ४।१२६)

इति । अत्र च शुद्धिस्वरूपमात्राभिधित्तया
क्रमो न विवक्षितः,—इत्येवमेषामभिधानम् ।
तदेतज्जन्माधिकारभोगलयनिष्कृतिविशे(श्ले)-
षोद्धारादिलक्षणं सर्वं शोधनसमाख्यातं संस्का-
रजातं श्रीमत्स्वच्छन्दशास्त्रायुक्तरूपात् क्रमा-
द्भवेत् । तीव्रतीव्रशक्तिपातवतां च

'जननादिविहीनां तु येन येनाध्वना गुरुः ।

कुर्यात्स एकतत्त्वान्तां.....॥' (१८।२)

इत्यादिवक्ष्यमाणस्वरूपाद्क्रमाद्वेति ॥ ८६ ॥

ननु चैतत्सर्वं किममन्त्रकं कार्यमुत सम-
न्त्रकं, तत्राप्यमन्त्रकत्वे छात्रमनोरथप्रायत्वान्न
किञ्चित् सिद्ध्येत्,—इति यत्किञ्चिदेतत् स्यात् ।
समन्त्रकत्वे पुनरचिन्त्या मन्त्रशक्तिरचिन्त्यप्र-
भावत्वाद्नायासमक्रमेणैव सर्वसंपत्तिरस्तु किं
क्रमेण येन

‘गर्भेषु गर्भनिष्पत्ति भैरवेणाहुतित्रयम् ।

हुत्वा तु जननं कार्यं पुनस्तेनाहुतित्रयात् ॥’

(ख० ४।११८)

इति । तथा

‘विश्लेषश्च हृदा होम्यो निष्कृतिः शिरसा पुनः ।’

(ख० ४।१६४)

इत्याद्युक्तमित्याशङ्क्याह

अत एव च ते मन्त्राः

शोधकाश्चित्ररूपिणः ।

सिद्धान्तवामदक्षादौ

चित्रां शुद्धिं वितन्वते ॥ ८७ ॥

अतो जन्मादेः संस्कारजातस्य क्रमेणा-
क्रमेण च भावादेव सिद्धान्तादावुक्तास्ते

हृदाद्याः प्रतिनियतशुद्धिकारित्वाच्चित्ररूपिणः
शोधका मन्त्राः 'चित्रां' जन्मादिरूपतया नाना-
विधां क्रमिकीमेव शुद्धिमादध्युस्तत्के पुनरक्र-
मिकीमित्याशङ्क्याह

अनुत्तरत्रिकानाम-

क्रममन्त्रास्तु ये किल ।

ते सर्वे सर्वदाः किन्तु

कस्यचित् क्वापि मुख्यता ॥८८॥

ये पुनरनुत्तरत्रिकार्थरूपे सिद्धानामकमा-
लिन्याख्ये त्रिप्रकारे क्रमे मन्त्रा उक्तास्ते
किल सर्व एव नतु शास्त्रान्तरोक्तवन्मूलम-
न्त्राद्येव सर्वदा सर्वामेव शुद्धिं क्रमादक्रमाद्वा
दध[द]तीत्यर्थः । ननु यद्येवं तत्कथं तत्रापि
मन्त्राणां

कृत्वात्मस्थं ततो योनौ गर्भाधानं विचिन्तयेत् ।

त्र्यर्णाधार्श्वरया मन्त्री सर्वगर्भक्रियान्वितम् ॥'

(मा० वि० ९।६०)

इत्याद्युक्त्या नियतकर्मविषयत्वमुक्तम्, - इ-

त्याशङ्क्याह किंतु कापि कस्यापि मुख्यतेति ।
यदभिप्रायेणैव श्रीपूर्वशास्त्रे

‘मायान्तमार्गसंशुद्धौ दीक्षाकर्मणि सर्वतः ।

क्रियास्वनुक्तमन्त्रासु योजयेदपरां बुधः ॥

विद्यादिसकलान्ते च तद्वदेव परापराम् ।

योजयेन्नेश्वरादूर्ध्वं पिबन्यादिकमष्टकम् ॥

न चापि सकलादूर्ध्वमङ्गषट्कं विचक्षणः ।

निष्कले परया कार्यं यत्किंचिद्विधिचोदितम् ॥’

(मा० वि० ९।७१)

इत्याद्युक्तम् ॥ ८८ ॥

अत एवात्र सर्वेषामेव मन्त्राणामध्वनि शो-
धकतया व्यवस्थितिरुक्ता, — इत्याह

अतः शोधकभावेन

शास्त्रे श्रीपूर्वसंज्ञिते ।

परापरादिमन्त्राणा-

मध्वन्युक्ता व्यवस्थितिः ॥८९॥

‘अत’ इति सर्वेषां त्रिकमन्त्राणां सर्वद-
त्वात् । शोधकभावेनेति, नतु शास्त्रान्तरोक्त-
वच्छोध्यत्वेनापीति । तदुक्तं तत्र

‘निष्कले पदमेकार्णं त्र्यर्णैकार्णमथ द्वयम् ।’

(मा० वि० ४।१९)

इत्यादि

‘सार्णेनाण्डत्रयं व्याप्तं त्रिशूलेन चतुर्थकम् ।

सर्वातीतं विसर्गेण पराया व्याप्तिरिष्यते ॥’

(मा० वि० ४।२५)

इत्यन्तम् ॥ ८९ ॥

ननु यथान्यत्र मूलमन्त्रस्यैव शोधकत्वमु-
क्तमन्येषां हृदादीनां पुनः शोध्यत्वं शोधकत्वं
च तद्वादिहापि शक्तित्रयमन्त्राणामेव किं शो-
धकत्वमुक्तं न वा, — इत्याशङ्क्याह

शोधकत्वं च मालिन्या

देवीनां त्रितयस्य च ।

देवत्रयस्य वक्राणा-

मङ्गानामष्टकस्य च ॥ ९० ॥

किं वातिबहुना द्वार-

वास्त्वाधारगुरुक्रमे ।

लोकपास्त्रविधौ मन्त्रान्

मुक्त्वा सर्वे विशोधकम् ॥९१॥

द्वारादिमन्त्राणां पुनरत्र न शोधकत्वं नापि
शोध्यत्वमिति भावः ॥ ९१ ॥

नन्वध्वषट्कस्य शोध्यत्वं परापरादीनां म-
न्त्राणां शोधकत्वं चेति यदुक्तं तदिदं संबन्ध-
मन्तरेणायःशलाकाकल्पत्वे कथं घटतामि-
त्याशङ्क्याह

यच्चैतदध्वनः प्रोक्तं

शोध्यत्वं शोद्धृता च या ।

सा स्वातन्त्र्याच्छिवाभेदे

युक्तेत्युक्तं च शासने ॥ ९२ ॥

ननु शिवाभेदस्याविशिष्टत्वादेकत्र शोध्य-
त्वमपरत्र शोधकत्वमिति वैचित्र्ये किं निमि-
त्तमित्याह सेति । नचैतदस्मदुपज्ञमेवेत्युक्तम्
'इत्युक्तं च शासने' इति । 'शासन' इत्यद्वय-
नयात्मनि । तदुक्तम्

'सर्वत्र भैरवो भावः सामान्येष्यथ गोचरे ।

न च तद्व्यतिरेकेण परोऽस्तीत्यद्वयागमः ॥'

इति। अद्वयागम इति, अद्वया गतिरित्यर्थः ॥९२॥

एतदेवोपपादयति

सर्वमेतद्विभात्येव

परमेशितरि ध्रुवे ।

प्रतिबिम्बस्वरूपेण

न तु बाह्यतया यतः ॥ ९३ ॥

प्रतिबिम्बस्वरूपेणेति, स्वरूपानतिरिक्तत्वे-
नेत्यर्थः । अत एवोक्तं नतु बाह्यतयेति ॥९३॥

ननु दर्पणादौ बाह्यार्थसमर्पितत्वादस्ति
प्रतिबिम्बस्य वैचित्र्यमिह पुनरुक्तयुक्त्या बा-
ह्यसमर्पकाभावाच्चिदाहितमेव तदिति चित
एकत्वात्तत्रास्य प्रमातृप्रमेयादेर्वैचित्र्यं न स्या-
दित्याशङ्क्याह

चिद्ब्योम्भयेव शिवे तत्त-

द्देहादिमतिरीदृशी ।

भिन्ना संसारिणां रज्जौ

सर्पस्रग्वीचिबुद्धिवत् ॥ ९४ ॥

इह खलु चिदेकरूपत्वाद्भावशून्यतया व्यो-
मप्राये शिव एवैकस्मिन् मायाप्रमातृणामी-

दृशी प्रतिबिम्बकल्पा तस्य तस्य विचित्रस्य
 देहादेः प्रमातृप्रमेयाद्यात्मनो भावजातस्य
 मतिः सर्पादिबुद्धिरिव रज्जौ स्वरूपेण भिन्ना,
 न तु भिन्नप्रत्येयालम्बनेत्यर्थः ॥ ९४ ॥

ननु रज्जुभुजगादिबुद्धिरपि किं भ्रान्तिमा-
 त्रमेव, — इत्याशङ्कां निरवकाशयितुं भ्रान्ति-
 त्वमेवोपपादयति

यतः प्राग्देहमरण-

सिद्धान्तः स्वप्नगोचरः ।

देहान्तरादिर्मरणे

कीदृग्वा देहसंभवः ॥ ९५ ॥

यतः कस्यचिद्दालादेः प्राच्यस्य प्राथमिकस्य
 बाल्यावस्थाव्यवस्थितस्य देहस्यान्तर्दग्धपित्रा-
 देश्च मरणस्यान्तर्गाढगाढं निद्रालोश्च सिद्धस्या-
 न्तर्वर्तमानस्यापि देहान्तरं यौवनावस्थावस्थि-
 तमुत्तरं प्राग्भाविजीवदवस्थं चेष्टमानावस्थं
 चान्यच्छरीरमादिशब्दाच्च नीलादि स्वप्नगो-
 चरः स्वप्नादावाभासमानं भ्रान्तिमात्रमेवेत्यर्थः ।
 नहि तथाभूतं शरीरादि स्वप्नादौ सदित्य-

भिप्रायः । नन्वस्ति शरीरं तथाभूतं तु मा भूत्
 नत्वेतावतात्यन्तमसतोऽवभास उक्तः स्यादि-
 त्याशङ्क्याह 'मरणे कीदृग्वा देहसंभव' इति ।
 इह खलु भासमानस्य रूपस्य सत्त्वमसत्त्वं वा
 निरूप्यं, न चात्र देहमात्रमवभासतेऽपितु
 प्रतिनियतावस्थावस्थितं तथा च नास्ति,— इति
 युक्तमुक्तम् 'असद्देहाद्यवभासत' इति । अस्तु
 वा तत्र कथंचिद्धर्मिमात्रद्वारकं सत्त्वं, मरणे तु
 प्रत्यक्षमेव तद्देहभस्मीभावदर्शनादत्यन्तमस-
 तोऽवभासः कथंकारं पराणुद्यताम् ॥ ९५ ॥

न केवलं स्वप्नादावेतदेवावभासते यावद-
 त्यन्तासंभाव्यमन्यदपि, — इत्याह

स्वप्नेऽपि प्रतिभामात्र-

सामान्यप्रथनावलात् ।

विशेषाः प्रतिभासन्ते

न भाव्यन्तेऽपि ते यथा ॥९६॥

इह खलु स्वप्नादौ नियतधर्मिपरिहारेण
 शिरश्छेदमात्रादिनिष्ठात् परामर्शमात्राद्यत्सा-
 मान्येन तथाप्रथनं तस्मात्, अत एव विशे-

षमन्तरेण सामान्यप्रतिभासस्यानुपपत्तिलक्ष-
णाद्बलात्कारादनुसंधातुमप्यशक्याः स्वशिर-
श्छेदादयो विशेषा अपि 'प्रतिभासन्ते'ऽनप-
ह्वनीयतया प्रस्फुरन्ति, -इति युक्तमुक्तं -
सर्वमेतत्संविद्रूपतयैवावभासते न तु बाह्य-
तयेति ॥ ९६ ॥

ननु चिदेव यद्येवं परिस्फुरति तदेकचित्त-
त्वसाराः सन्तः सर्वे भावाः कथमिवान्योन्य-
स्य वैचित्र्यमासादयेयुरित्याशङ्क्याह

शालग्रामोपलाः केचि-
च्चित्राकृतिभृंतो यथा ।
तथा मायादिभूम्यन्त-
लेखाचित्रहृदश्चितः ॥ ९७ ॥

यथाहि उपलत्वाविशेषेऽपि केचिदेव मुद्रा-
शब्दाद्यभिधेयाः शालग्रामोपलाः स्वभावत एव
तत्तच्छङ्खचक्रादिसंनिवेशविशेषवत्त्वाद्विचित्रा-
कारभाजस्तथैव प्रमातृप्रमेयाद्यात्मानः स्वय-

मविशिष्टा अपि चितः स्वस्वातन्त्र्योच्छासितया
मायादिभूम्यन्तया रेखया कलादीनां प्रतिपुंनि-
यतत्त्वाद्विचित्रोपाधिरूपया तावत्याध्वमर्यादया
चित्रहृदो भिन्नभिन्नरूपपरामर्शा इत्यर्थः ॥९७॥

ननु

‘अयमेव भेदो भेदहेतुर्वा भावानां योऽयं
विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदो वा ।’

इत्यादिनीत्या विवादस्तत्कथं चित एकत्वा-
द्देवंभावो भवेदित्याशङ्क्याह

नगरार्णवशैलाद्या-

स्तदिच्छानुविधायिनः ।

न स्वयं सदसन्तो नो

कारणाकारणात्मकाः ॥ ९८ ॥

एतदेवोपपादयति — न स्वयमित्यादिना ।
यतो नगराद्यर्थजातं स्वयं तावद्वाह्यतया न
सत्, तथात्वे हि अस्य स्थूलं सूक्ष्मं वा रूपं
स्यात्, नचात्रैकमपि संभवति । तथाहि एक-
रूपतयावभासमानस्य स्थूलस्य कम्पाकम्पा-
दियोगाद्विरुद्धधर्माध्यासेनैकतैव न स्यात्, —

इति स्थौल्ये बाधः; परमाणूनामप्यवश्यंभा-
विनि परस्परसंयोगे षडंशता प्रसजेत्, —इति
सौक्ष्म्येऽपि बाधः । नचासदसतो भासनायो-
गात्, अत एव सत्तानुपपत्तेर्नेदं कारणमसत्ता-
नुपपत्तेश्च न कार्यमित्युक्तं 'नो कारणाकारणा-
त्मकाः' इति । नहि सत्तामुत्पत्तेः प्रागसत्तां च
विना कारणत्वं कार्यत्वं च घटते' —इत्युक्तं
प्राक् ॥ ९८ ॥

ननु लोके कार्यकारणादिरूपश्चिरप्ररूढोऽयं
व्यवहारो — यदग्निः कारणं धूमश्च कार्यमिति
तन्नान्तरीयक एव च सदसत्त्वे, —इति किमे-
तदुक्तमित्याशङ्क्याह

नियतेश्चिररूढायाः

समुच्छेदात्प्रवर्तनात् ।

अरूढायाः स्वतन्त्रोऽयं

स्थितश्चिद्व्योमभैरवः ॥ ९९ ॥

इह हि पारमेश्वर्या एव नियतिशक्तेरिदं
विजृम्भितं — यदग्निः कारणं धूमश्च कार्य-

मिति, न पुनरग्न्यादीनामेवंस्वभावत्वम् । तथात्वे हि नियत एव कार्यकारणभावो भवेत्, न चैवमस्ति — यदग्निमन्तरेण योगीच्छयाप्यभूतस्य धूमस्य प्रादुर्भावो दृश्यते, — इत्युक्तं चिररूढाया नियतेः समुच्छेदादरूढायाश्च प्रवर्तनादिति । अतश्च पूर्णरूपायाश्चित एवात्र सर्वकर्तृत्वमित्युपपादितं प्राग्बहुशः ॥ ९९ ॥

ननु यद्येवं पूर्णरूपा चिदेव तथा तथावभासते तत्कोऽयं भेदो नाम, — इत्याशङ्क्याह

एकचिन्मात्रसंपूर्ण-

भैरवाभेदभागिनि ।

एवमस्मीत्यनामर्शो

भेदको भावमण्डले ॥ १०० ॥

तेनाख्यातिविजृम्भामात्रसारोऽयं भेद इत्यभिप्रायः ॥ १०० ॥

ननु बीजाङ्कुरादावनुप्रवेश एव चितो नास्ति मृद्धटादौ पुनरस्ति तदनुप्रवेशः, किं त्वसौ कौम्भकारी न पूर्णा, — इति कथमुक्तं—

पूर्णरूपायाश्चित एव सर्वत्र कर्तृत्वमित्याशङ्क्याह

सर्वप्रमाणैर्नो सिद्धं

स्वप्ने कर्तृन्तरं यथा ।

स्वसंविदः स्वसिद्धाया-

स्तथा सर्वत्र बुद्ध्यताम् ॥१०१॥

इह यथा केनापि प्रमाणेन स्वप्नादाववभा-
समानानां घटाङ्कुरादीनां स्वतःसिद्धायाः स्वसं-
विदः सकाशादन्यः कश्चित्कारणतयाभिमतः
कर्ता न सिद्धस्तथा सर्वत्र जागरादावपि
'बुद्ध्यतां' संविद एव सर्वदशासु सर्वभावा-
विर्भावने पूर्णं कर्तृत्वं बोद्धव्यमित्यर्थः ॥१०१॥

ननु कोऽर्थस्तथाबोधेन, - इत्याशङ्क्याह

चित्तचित्रपुरोद्याने

क्रीडेदेवं हि वेत्ति यः ।

अहमेव स्थितो भूत-

भावतत्त्वपुरैरिति ॥ १०२ ॥

यः खलु 'अहमेव विश्वात्मतयोह्यसित'
इत्येवं विमृशेत् स चित्तमेव तत्तद्वैचित्र्याति-

शययोगाच्चित्रे पुरे, न पुनररण्यादौ तत्र तथा
चमत्कारतारतम्याभावादनन्तभावसंभारनिर्भ-
रमुद्यानं, तत्र 'क्रीडेत्' स्वात्मन्येव पूर्णतया
विश्राम्यञ्जीवन्नेव मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ १०२ ॥

ननु सर्व एव जन्मादिविनाशान्तं विका-
रजातमनिच्छन्तोऽपि बलादासादयन्ति, - इ-
त्यत्र कर्मादिनिमित्तमन्यदनुसरणीयं तत्कथ-
मुक्तं - चित एव सर्वत्र कर्तृत्वमिति-इत्या-
शङ्कथाह

एवं जातो मृतोऽस्मीति

जन्ममृत्युविचित्रताः ।

अजन्मन्यमृतौ भान्ति

चित्तमित्तौ स्वनिर्मिताः ॥१०३॥

यद्गीतम्

'न जायते म्रियते वा कदाचि-

न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥' (गी० २।२०)

इति ॥ १०३ ॥

ननु यदि जन्ममृत्यू न स्तस्तत्कथमिहप-
रलोकादिव्यवस्था स्यादित्याशङ्क्याह

परेहसंविदामात्रं
परलोकेहलोकते ।

नन्विह परत्र च देशे काले वा संविदिति
इहत्वपरत्वयोर्देशकालात्मकत्वात्कथं संविन्मा-
त्ररूपत्वं स्यादित्याशङ्क्याह

वस्तुतः संविदो देशः

कालो वा नैव किञ्चन ॥१०४॥

ननु संविदो देशकालौ मा भूतां, संवि-
त्क्रियाकर्मणस्तु संवेद्यस्य धारकतयाधारभूतौ
देशकालौ विना भूतभावाद्यात्मना स्वसाक्षि-
कमपि नैयत्वं न स्यादित्याशङ्क्याह

अभविष्यद्यं सर्गो

मूर्तश्चेन्न तु चिन्मयः ।

तदवेक्ष्यत् तन्मध्यात्

केनैकोऽपि धराधरः ॥ १०५ ॥

इह खलु विश्वं नाम किं संविदो बहिर्मूर्तमुत संविन्मयं, तत्रास्य मूर्तत्वे धार्यत्वादेव सर्वस्य किं केन धार्यं, संविन्मयत्वे पुनर्धार्यधारकभावार्थ एव कः, तत्रापि वा संविदेव धारिका यद्भित्ताविदं सर्वं प्रस्फुरेत् ॥ १०५ ॥

ननु पृथिव्यपां धारिका आपश्च तेजसस्तच्च वायोरित्यादिराधाराधेयभावक्रमः सर्वत्रैवोक्तः, — इति किमेतदुक्तं किं केन धार्यमिति — इत्याशङ्क्याह

भूततन्मात्रवर्गादे-

राधाराधेयताक्रमे ।

अन्ते संविन्मयी शक्तिः

शिवरूपैव धारिणी ॥ १०६ ॥

एवमपि ह्यवश्यमन्ते संविद एव धारकत्वमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा हि पृथिव्या अपि किं धारकं तस्यापि किम्, — इत्याद्यनवस्था न शाम्येत् । पृथिव्यादीनां च संवेद्यत्वान्यथानुपपत्त्या संविन्मयतायामैवमाधाराधेयभावः संगच्छते, — इति संविदेवैका

भगवती विश्वोह्लासने धारणे च निमित्तं येन
न कश्चिद्दोषः ॥ १०६ ॥

तदाह

तस्मात्प्रतीतिरेवेत्थं

कर्त्री धर्त्री च सा शिवः ।

ततो भावास्तत्र भावाः

शक्तिराधारिका ततः ॥ १०७ ॥

प्रतीतिरिति संवित् । ननु शक्तिरेव धारिणी-
त्युक्तं, परिपूर्णसंविदात्मनि शैवे धामनि पुनः क
आधाराधेयभावाद्यर्थः, — इत्याशङ्क्याह 'शक्ति-
राधारिका ततः' इति । तदि[त्रे]ति, तत्र शिव
एवेत्यर्थः । संविन्मयी शिवरूपैव सेत्युक्तम् १०७

नचैतदपूर्वं किञ्चिदित्याह

सांकल्पिकं निराधार-

मपि नैव पतत्यधः ।

स्वाधारशक्तौ विश्रान्तं

विश्रमिथं विमृश्यताम् ॥ १०८ ॥

'गगने चतुर्दन्तो हस्ती धावति' इत्यादा-

विव वैकल्पिक्यां संविदि भवं हस्त्यादि
 विनापि बाह्यमाधारं स्वस्यां संविन्मात्ररूपायां
 धारिकायां शक्तौ विश्रान्तं सत् यथा नैवाधः
 पतति स्वावष्टम्भेनैवावतिष्ठते तथा निखिल-
 मिदं विश्वमपि विमृश्यतां, निश्चयेन परि-
 गृह्यतामित्यर्थः ॥ १०८ ॥

ननु घटाद्यात्मना परिस्फुरतो धरादिवपुषो
 वस्तुसतो विश्वस्य सांकल्पिकमवस्तुभूतं निद-
 र्शनं संगच्छतां कथमित्याशङ्क्याह

अस्या घनाहमित्यादि-

रूढिरेव धरादिता ।

यावदन्ते चिदस्मीति

निर्वृत्ता भैरवात्मता ॥ १०९ ॥

घनद्रवादिरूपमपि विश्वं तथा तथा सं-
 विदि विमर्शप्ररोहमनधिगच्छत् संविद्बाह्य-
 मेव वस्तुसत्तां न जातुचिदधिशयीत, — इत्या-
 शयः ॥ १०९ ॥

ननु यद्यनुदितानस्तमितसंविन्मात्रसारं घ-
नद्रवादिरूपं धराद्यर्थजातमभ्युपेयते तत्कथ-
मस्योदयव्यययोगः समाधीयते,—इत्याशङ्क्याह

मणाविन्द्रायुधे भास

इव नीलादयः शिवे ।

परमार्थत एषां तु

नोदयो न व्ययः क्वचित् ११०

ननु तत्तन्नियतदेशकालावलम्बनेन तत्त-
दर्थजातस्योत्पत्तिविनाशावनपह्वनीयावेव,—
इति कथमुक्तं, नैषामुदयो व्ययो वेति,—
इत्याशङ्क्याह

देशे कालेऽत्र वा सृष्टि-

रित्येतदसमञ्जसम् ।

चिदात्मना हि देवेन

सृष्टिर्दिकालयोरपि ॥ १११ ॥

न च मायापदेऽपि देशकालयोः कश्चिन्नि-
यमः,—इत्याह

जागराभिमते सार्ध-
हस्तत्रितयगोचरे ।

प्रहरे च पृथक् स्वप्ना-

श्वित्रदिक्कालमानिनः ॥११२॥

जाग्रद्दशायामपि हि नियतपरिमाणे शरी-
रदेशे प्रहराद्यात्मनि काले च पृथगुर्वीपर्वता-
काशादितया दिनमाससंवत्सरकल्पादितया च
विचित्रदिक्कालाद्यभिमानभाजः स्वप्नदशावल-
म्बिनोऽवभासा उपलभ्यन्ते, — इति को नामा-
नयोर्नियमः ॥ ११२ ॥

एवं च येऽप्यत्यन्तसंकुचितक्षणात्मकका-
लनियमाद्भावानां क्षणिकत्वमाचक्षते तेऽप्य-
नया दिशा परास्ताः, — इत्याह

अत एव क्षणं नाम

न किञ्चिदपि मन्महे ।

क्रियाक्षणे वाप्येकस्मिन्

बह्व्यः संस्युर्द्रुताः क्रियाः ११३

१ ख० पु० भागिन इति पाठः । क० पु० गामिन इति पाठः ।
२ ग० पु० पिहीति पाठः ।

तेन ये भावसंकोचं
क्षणान्तं प्रतिपेदिरे ।

ते नूनमेनया नाड्या

शून्यदृष्टयवलम्बिनः ॥११४॥

अतो देशकालयोरनियमादेव न कश्चि-
न्नियतः क्षणो नाम सिद्धो यत एकस्मिन्न-
प्युत्पत्त्यादिक्षणे 'द्रुता' निरन्तरा 'बह्वयः'
स्थित्यर्थक्रियाविनाशाद्याः क्रियाः संस्युः ।
क्षणस्याप्यवान्तरानेकक्षणयोगात् क्षणत्वमेव
न पर्यवस्येत्, भावानां क्षणादूर्ध्वमवस्थानान-
भ्युपगमात् क्षणस्य चाव्यवस्थितेः क्षणमपि
स्थितिर्न स्यात्, —इति शून्यतैवावलम्बिता
भवेत्, तत्किं विज्ञाननयादिसोपानकल्पनया?
इति ॥ ११४ ॥

ननु यदि देशकालौ वास्तवौ न स्तस्त-
त्कोऽयं व्यवहारो नाम, —इत्याशङ्क्याह

तद्य एष सतो भावाञ्
शून्यीकर्तुं तथासतः ।

स्फुटीकर्तुं स्वतन्त्रत्वा-

दीशः सोऽस्मत्प्रभुः शिवः ११५

सत इति, बहीरूपतया । शून्यीकर्तु-
मिति, बाह्यतान्यकारेण संविन्मयतयावस्था-
पयितुमित्यर्थः । असत इति, संविन्मात्रसा-
रतया स्वरूपशून्यानित्यर्थः । स्फुटीकर्तुमिति,
बहिरवभासयितुम् ॥ ११५ ॥

प्रकृतमेवोपसंहरति

तदित्थं परमेशानो

विश्वरूपः प्रगीयते ।

न तु भिन्नस्य कस्यापि

धरादेरुपपन्नता ॥ ११६ ॥

उक्तं चैतत्पुरैवेति

न भूयः प्रविविच्यते ।

भूयोभिश्चापि बाह्यार्थ-

दूषणैः प्रव्यरम्यत ॥ ११७ ॥

प्रव्यरम्यतेति, प्रविरतं पर्यवसितं समा-
प्तमिति यावत् ॥ ११७ ॥

इदानीमाह्निकार्थमेव श्लोकस्य प्रथमार्थे-
नोपसंहरति

तदित्थमेष निर्णीतः

कलादेर्विस्तरोऽध्वनः ॥ ११८ ॥

स्पष्टमिति शिवम् ॥ ११८ ॥

निःशेषषड्विधाध्वप्रविभागसतत्त्वविद्वधाद्विवृतिम् ।
एकादशाह्निके किल जयरथपदलाञ्छनः कश्चित् ॥



इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य-श्रीमदभिनवगुप्तवि-
रचिते तन्त्रालोके

श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते कलादिप्रदर्शनं
नामैकादशमाहिकं समाप्तम् ॥ ११ ॥



श्रीमत्प्रतापभूभर्तुराज्ञया प्रीतये सताम् ।
मधुसूदनकौलेन संपाद्यायं प्रकाशितः ॥

श्रीसास्वशिवापणमस्तु ॥



अथ

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तविरचिते
श्रीजयरथकृतविवेकाभिख्यटीकोपेते

द्वादशमाह्निकम् ।

अमृतात्मकार्धचन्द्र-

प्रगुणाभरणोऽध्वमण्डलं निखिलम् ।

विश्रमयन्निजसंविदि

जयदोऽस्तु सतां सदा जयदः ॥

अथ द्वितीयाधेनाध्वोपयोगं प्रकाशयितु-
माह

अथाध्वनोऽस्य प्रकृत

उपयोगः प्रकाश्यते ॥ १ ॥

प्रकृत इति यागादौ ॥ १ ॥

तदेवाह

इत्थमध्वा समस्तोऽयं

यथा संविदि संस्थितः ।

तद्वारा शून्यधीप्राण-

नाडीचक्रतनुष्वथो ॥ २ ॥

बहिश्च लिङ्गमूर्त्यग्नि-

स्थण्डिलादिषु सर्वतः ।

तथा स्थितः समस्तश्च

व्यस्तश्चैष क्रमाक्रमात् ॥ ३ ॥

तद्वारेति संविद्वारेण, तत्सृष्टा एव शून्या-
दयः । यदुक्तं प्राक्

‘संविद्वारेण तत्सृष्टे शून्ये धियि मरुत्सु च ।

नाडीचक्रानुचक्रेषु बहिर्देहेऽध्वसंस्थितिः ॥’

(तं० ८ । ४)

इति । बहिरिति शून्यादिप्रमातुः, मूर्तिः शि-
ष्यात्मा, आदिशब्दात् कुम्भादौ । तदुक्तम्

‘कुम्भमण्डलवह्निस्थश्चाध्वात्मस्थः शिशोश्च यः ।

सूत्रस्थश्चापि चैकत्र अध्वसंधिः प्रकीर्तितः ॥’

इति । समस्त इति षड्विधोऽपि, व्यस्त

इति शोधयत्वेनाभिमतः कलाद्यन्यतमः, क्रमा-
क्रमादिति क्रमः स्थूलसूक्ष्मपरात्मा, अक्रम
एकप्रघट्टकात्मा ॥ ३ ॥

नन्वेवमवस्थानेनास्य किं प्रयोजनमित्या-
शङ्क्याह

आसंवित्तत्वमाबाह्यं

योऽयमध्वा व्यवस्थितः ।

तत्र तत्रोचितं रूपं

स्वं स्वातन्त्र्येण भासयेत् ॥४॥

संवित्तत्वादारभ्य बाह्यपर्यन्तं योऽयं षड्वि-
धोऽप्यध्वा संस्थितस्तत्र तत्र भुवनपदाद्यात्म-
न्यध्वनि स्वं संकुचितमात्मानं स्वातन्त्र्येण
'अहमेव परो हंसः' (स्व० ४।३९५) इत्याद्या-
त्मना स्वविमर्शेनोचितमसंकुचितं परशिवा-
त्मकं रूपं भासयेत् तन्मयं संपादयेदित्यर्थः ।
तदुक्तम्

'अस्य विश्वस्य सर्वस्य पर्यन्तेषु समन्ततः ।

अध्वप्रक्रियया तत्त्वं शैवं ध्यात्वा महोदयः ॥'

(वि० भै० ५७ श्लो०)

इति । अनेन चानुजोद्देशोद्दिष्टमभेदभावना-
ख्यमपि प्रमेयमासूत्रितम् ॥ ४ ॥

ननु संकुचितस्यापि देहादिप्रमातुः कथमेवं
भायादित्याशङ्क्याह

सर्वे सर्वत्र रूपं च

तस्यापि न न भासते ।

नह्यवच्छेदितां कापि

स्वप्नेऽपि विषहामहे ॥ ५ ॥

अवच्छेदितामिति संकुचितात्मतामिति ।

यदाहुः

‘प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्प्यश्च’
इति ॥ ५ ॥

नन्वेवमवभासनेन कोऽर्थः, इत्याशङ्क्याह

एवं विश्वाध्वसंपूर्णं

कालव्यापारचित्रितम् ।

देशकालमयरूपन्द-

मद्य तेहं विलोकयेत् ॥ ६ ॥

ततश्च किमित्याशङ्क्याह
 तथा विलोक्यमानोऽसौ
 विश्वान्तर्देवतामयः ।

ध्येयः पूज्यश्च तर्प्यश्च
 तदाविष्टो विमुच्यते ॥ ७ ॥

न केवलं देहादावेवंभावनैतत्स्याद्यावद्-
 हिरपि, इत्याह

इत्थं घटं पटं लिङ्गं
 स्थण्डिलं पुस्तकं जलम् ।

यद्वा किञ्चित्क्वचित्पश्ये-
 तत्र तन्मयतां व्रजेत् ॥ ८ ॥

ननु संविन्मयतापत्तावर्चनादि सर्वत्र नि-
 मित्तमुक्तमिह पुनः किमेतदुच्यते, इत्या-
 शङ्क्याह

तत्रार्पणं हि वस्तूना-
 मभेदेनार्चनं मतम् ।

तथा संपूर्णरूपत्वा-
नुसंधिर्ध्यानमुच्यते ॥ ९ ॥

संपूर्णत्वानुसंधान-
मकम्पं दार्ढ्यमानयन् ।

तथान्तर्जल्पयोगेन
विमृशञ्जपभाजनम् ॥ १० ॥

तत्रार्पितानां भावानां
स्वकभेदविलापनैम् ।

कुर्वेस्तद्रश्मिसद्भावं
दद्याद्धोमक्रियापरः ॥ ११ ॥

दार्ढ्यमिति साक्षात्कारपर्यन्तम् । तथेति
अनुसंधानदार्ढ्येन । दद्यादिति तद्रश्मिरूपतया
चकास्यादित्यर्थः । अयमेव होम उच्यते
इत्युक्तं 'होमक्रियापरः' इति ॥ ११ ॥

नन्वेवमनुतिष्ठतः किं स्यादित्याशङ्क्याह

तथैवंकुर्वतः सर्वे

समभावेन पश्यतः ।

निष्कम्पता व्रतं शुद्धं

साम्यं नन्दिशिखोदितम् ॥१२॥

सर्वं हेयोपादेयाद्यात्मकम् । तदुक्तं तत्र

‘सर्वत्र समता ह्यत्र व्रते देवि विधीयते ।

न कषायैर्व्रती भिक्षुर्न मौनी संयतो भवेत् ॥

यावन्न परमेशानो विज्ञातः सर्वगः शिवः ।

तस्मादन्तर्मुखो नित्यं साधनात्तत्परो व्रती ॥

सर्वभूतान्तरस्थायी यस्मादेकः शिवः प्रिये ।

तस्मात्समत्वं मूलं तु व्रतानां परमं व्रतम् ॥

येऽन्ये केचिद्ब्रता भद्रे तेऽङ्गभावं व्रजन्त्यतः ।

अङ्गसौ कथितो देवि व्रतानां परमो व्रतः ॥’

इति ॥ १२ ॥

अथमेव च परः समाधिरित्याह

तथार्चनजपध्यान-

होमव्रतविधिक्रमात् ।

परिपूर्णां स्थितिं प्राहुः

समाधिं गुरवः पुरा ॥ १३ ॥

पुरागुरवः पूर्वगुरवः श्रीकण्ठाद्याः । यदाहुः

‘स्वपरस्थेषु भूतेषु जगत्यस्मिन्समानधीः ।

शिवोऽहमद्वितीयोऽहं स समाधिः परः स्मृतः’

(ने० त० ८।१८)

इति ॥ १३ ॥

नन्वेवंविधे त्वर्चनादौ किं बाह्यं किंचिद-
पेक्षणीयं न वा ? इत्याशङ्क्याह

अत्र पूजाजपाद्येषु

बहिरन्तर्द्वयस्थितौ ।

द्रव्यौघे न विधिः कोऽपि

न कापि प्रतिषिद्धता ॥ १४ ॥

बहिःस्थितौ द्रव्यौघे मद्यादौ, अन्तः-
स्थितौ नालाज्यादौ ॥ १४ ॥

नन्वत्र कस्मादुपेक्षणीयत्वमित्याशङ्क्याह

कल्पनाशुद्धिसंध्यादे-

र्नोपयोगोऽत्र कश्चन ।

नन्वत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह

उक्तं श्रीत्रिकसूत्रे च

जायते यजनं प्रति ॥ १५ ॥

अविधिज्ञो विधिज्ञश्चे-

त्येवमादि सुविस्तरम् ।

श्रीत्रिकसूत्र इति त्रिकप्रमेयसूचिकायां
श्रीपरात्रीशिकायामित्यर्थः । तथा च तत्र

‘अविधिज्ञो विधानज्ञो जायते यजनं प्रति ।’

(परात्री० २० श्लो.)

इत्यादि बहूक्तम् । एतच्च प्रागेवोक्तमिति न
पुनरायस्तमिह ॥ १५ ॥

ननु एवमप्यत्र

‘नित्योदिता पराशक्तिर्यद्यप्येषा तथापि च ।

बाह्यचर्याविहीनस्य दुर्लभा कौलिकी स्थितिः ॥’

इत्यादिना बाह्योपयोगः कथंचिदाम्नातः, इति
किमेतदुक्तमित्याशङ्क्याह

यदा यथा येन यत्र

स्वा संवित्तिः प्रसीदति ॥ १६ ॥

तदा तथा तेन तत्र
तत्तद्भोग्यं विधिश्च सः ।

एतच्च सर्वमेवात्र विहितमित्याह
लौकिकालौकिकं सर्वं
तेनात्र विनियोजयेत् ॥ १७ ॥
निष्कम्पत्वे सकम्पस्तु
कम्पं निर्हासयेद्बलात् ।

निष्कम्पत्व इति निर्विकल्पकत्व इत्यर्थः ।
कम्पं शङ्कादिरूपं बलान्निर्हासयेत् तत्रैव
यत्नपरो भवेदित्यर्थः ॥ १७ ॥

तदाह

यथा येनाभ्युपायेन
क्रमादक्रमतोऽपि वा ॥ १८ ॥
विचिकित्सा गलत्यन्त-
स्तथासौ यत्नवान्भवेत् ।

विचिकित्सेति शङ्का, अनेन च कम्पहा-
साख्यमपि प्रमेयमुक्तम् ॥

अतश्च किमित्याह

धीकर्माक्षगता देवी-

निषिद्धैरेव तर्पयेत् ॥ १९ ॥

निषिद्धैरिति 'यद्द्रव्यं लोकविद्विष्टम्' इत्या-
दिनाम्नातैः ॥ १९ ॥

नन्वेवं निषिद्धाचरणे किं प्रमाणमित्या-
शङ्क्याह

वीरव्रतं चाभिनन्दे-

दिति भर्गशिखावचः ।

तदुक्तं तत्र

'वीरव्रतं चाभिनन्देद्यथायोगं तथाभ्यसेत् ।'

इति ॥

ननु शङ्कादिभिः किं कृतं यदेवं तन्निर्द्वासे
यत्नः, इत्याशङ्क्याह

तथाहि शङ्का मालिन्यं

ग्लानिः संकोच इत्यदः ॥२०॥

संसारकारागारान्तः

स्थूलस्थूणाघटायते ।

मालिन्यमाणवमलात्मकमज्ञानम् । ग्लानि-
स्तदुत्थोऽनुत्साहः । यदुक्तम्

‘ग्लानिर्विलुण्ठिका देहे तस्याश्चाज्ञानतः सृतिः ।’

(स्प० ३।८)

इति । संकोचो देहादिप्रमातृतापारिमित्यम्,
स्थूणाशब्देन चात्र हडिलक्ष्यते ॥ २० ॥

नन्वस्त्येव दुरुन्मूलं शङ्काया बीजं यदिदं
कार्यमिदं नेति तत्कथं तन्निर्हासे यत्नवता
भाव्यमित्याशङ्क्याह

मन्त्रा वर्णस्वभावा ये

द्रव्यं यत्पाञ्चभौतिकम् ॥ २१ ॥

यच्चिदात्म प्राणिजातं

तत्र कः संकरः कथम् ।

संकरो हि भिन्नस्वभावानां भवति न च
मन्त्रादीनां कश्चित्स्वभाव इत्युक्तं वर्णस्वभावा
इति पाञ्चभौतिकमिति चिदात्मेति च । एतच्च
प्रागेव निषेधविधितुल्यत्वाभिधानसमये निरू-
पितमित्यत एवावधार्यम् ॥ २१ ॥

एवमस्या निमित्ताभावात् संभव एव
नास्ति,-इत्याह

संकराभावतः केयं

शङ्का तस्यामपि स्फुटम् ॥२२॥

न शङ्केत तथा शङ्का

विलीयेतावहेलया ।

संकरशब्दोऽत्र संकीर्यमाणयोः कार्याकार्य-
योरुपलक्षणम् । केयमिति न काचिदित्यर्थः ।
एवं निर्हेतुकत्वेऽपि अस्यां प्रमादादुल्लसन्त्यां न
विचिकित्सितव्यमित्याह 'तस्यामपि न शङ्केत'
इति । तथा च सुखमेव तन्निरासः सिद्ध्येदि-
त्युक्तं 'तथा शङ्का विलीयेतावहेलया' इति २२

न चात्र युक्तिरेवास्ति यावदागमोऽपीत्याह

श्रीसर्वाचारवीराली-

निशाचरक्रमादिषु ॥ २३ ॥

शास्त्रेषु विततं चैत-

त्तत्र तत्रोच्यते यतः ।

क्रमः क्रमदर्शनम्, आदिशब्दाच्छ्रीगम-
शास्त्रम् ॥ २३ ॥

तत्रत्यमेव ग्रन्थैकदेशमुदाहरति

शङ्कर्या जायते ग्लानिः

शङ्कया विघ्नभाजनम् ॥ २४ ॥

‘शङ्कया कुगतिं याति तस्माच्छङ्कां परित्यजेत् ॥’

इत्यस्य द्वितीयमर्धम् । तत्र श्रीसर्ववीरे

‘अज्ञानाच्छङ्कते मूढस्ततः सृष्टिश्च संहतिः ।

मन्त्रा वर्णात्मकाः सर्वे वर्णाः सर्वे शिवात्मकाः ॥

पेयापेयं स्मृता आपो भक्ष्याभक्ष्यं तु पार्थिवम् ।

सुरूपं च विरूपं च तत्सर्वं तेज उच्यते ।

स्पृश्यास्पृश्यौ स्मृतौ वायुश्छिद्रमाकाशमुच्यते ॥

नैवेद्यं च निवेदी च नैवेद्यं गृह्णते च ये ।

सर्वं पञ्चात्मकं देवि न तेन रहितं क्वचित् ॥

इच्छामुत्पादयेदात्मा कथं शङ्का विधीयते ।’

इत्याद्युक्तम् । श्रीवीरावलौ च सप्तमोद्देशे बहूक्तं
तच्च प्रागपि किञ्चित्संवादितमिति ग्रन्थविस्तर-
भयान्न पुनर्लिखितं तत्तत एवावधार्यम् ।
श्रीनिशाचरेऽपि

‘विकल्पाज्जायते शङ्का सा शङ्का बन्धरूपिणी ।
बन्धोऽन्यो नहि विद्येत ऋते शङ्कां विकल्पजाम् ॥’

इत्युपक्रम्य

मत्रशङ्कात्मशङ्का च तत्त्वशङ्का परा मता ।
षड्विधां कथयिष्यामि यथा मोक्षमवाप्स्यसि ॥’
इत्यादि बहूक्तम् । श्रीक्रमसद्भावेऽपि
‘.....शङ्काशून्यो भवेत्सदा ।’

इति ॥ २४ ॥

न केवलमेतत्स्वतः शास्त्रतश्च सिद्धं यावद्गुरु-
तोऽपि,-इत्याह

उवाचोत्पलदेवश्च

श्रीमानस्मद्गुरोर्गुरुः ।

तदेवाह

सर्वाशङ्काशनिं मार्गं

नुमो माहेश्वरं त्विति ॥ २५ ॥

तदुक्तम्

‘सर्वाशङ्काशनिं सर्वालक्ष्मीकालानलं तथा ।
सर्वामङ्गल्यकल्पान्तं मार्गं माहेश्वरं नुमः ॥’

(उ० स्तो० २।२८)

इति ॥ २५ ॥

एतदेव श्लोकस्य प्रथमार्धेनोपसंहरति

अनुत्तरपदाप्तये

तदिदमाणवं दर्शिता-

भ्युपायमतिविस्तरा-

न्ननु विदांकुरुध्वं बुधाः ।

दर्शिताभ्युपायमिति दर्शितः स्थानभेदा-
द्यात्माभ्युपायो यस्य इति शिवम् ॥ २६ ॥

चिदभेदभावनावश-

निरस्तशङ्काकलङ्कदुर्ललितः ।

जयरथ एतदरचयत्

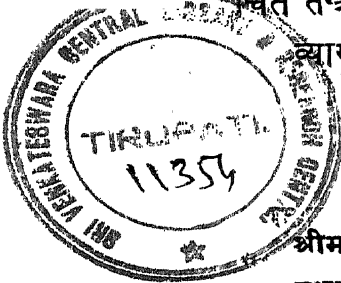
कृतविवृति द्वादशाहिकं सद्यः ॥

इति श्रीमहाभाहेश्वराचार्यवर्य-श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यविर-

चिते तन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्य-

व्याख्योपेते अध्वोपयोगप्रकाशनं नाम

द्वादशमाहिकम् ॥ १२ ॥



श्रीमत्प्रतापभूर्भर्तुराज्ञया प्रीतये सताम् ।

मधुसूदनकौलेन संपाद्यायं प्रकाशितः ॥

श्रीमत्साम्बशिचार्पणं भूयात्